Kku 'kkfr e=h

पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका
अंक : 22
मई-जून 2009

संपादक
भारत भारद्वाज

समन्वयक
राकेश श्रीमाल

प्रकाशक
महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय,
पो. मानस मंदिर, पंचटीला,
वर्धा (महाराष्ट्र) 442001
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिन्दीविश्व
E-mail : Pustakvarta@indiatimes.com

© सम्बन्धित लेखकों द्वारा
पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।
विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र दिल्ली।

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1,
वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032
आवरण-सज्जा : अशोक सिद्धार्थ

यह अंक : 20 रु.
वार्षिक सदस्यता : 120 रु.
दिल्ली से बाहर चेक के लिए वार्षिक 145 रु.
और द्वैवार्षिक 265 रु./- मनीआर्डर स्वीकार्य नहीं।

PUSTAK-VARTA
A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post Manas Mandir, Panchtila,
Wardha-442001 (Maharashtra)

बिक्री और वितरण केन्द्र
प्रकाशन विभाग,
क्षेत्रीय प्रसार केंद्र
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय,
ई-47/7, ओखला औद्योगिक क्षेत्र, फेज-II, दिल्ली-110020
टेली-011-26387365

संपादकीय संपर्क
क्षेत्रीय प्रसार केंद्र
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय,
ई-47/7, ओखला औद्योगिक क्षेत्र, फेज-II, दिल्ली-110020
टेली-011-26387365
मो.-09313034049
E-mail : bhardwaj_bharat@yahoo.com

अनुक्रम

सम्पादकीय		३
मैं और पुस्तकें	: **मेरे अध्ययन का विकास-क्रम** / रमेश उपाध्याय	९
उपन्यास	: रेत / **भगवानदास मोरवाल** **रेत ज्यों तन रह गया है** / गीता शर्मा	१४
कहानी	: भूलना / **चंदन पांडेय** **भूलने के विरुद्ध** / कमलेश सिंह	१६
कहानी	: फूलों का बाड़ा / **मो. आरिफ** **विडम्बनाओं का घटाटोप** / अलका प्रकाश	१८
कविता	: खुले में आवास / **कमलेश** **कवि का खुले में आवास** / राजेंद्र कुमार	२१
पत्र	: धर्मवीर भारती के पत्र पुष्पा भारती के नाम / **पुष्पा भारती,** 'आरम्भ' की दुनिया / **सं. विनोद भारद्वाज** **दो छोरों वाले पत्रों की दुनिया** / मधुरेश	२३
साहित्य प्रसंग	: **केरल का प्रथम हिंदी कवि स्वातितिरुनाल महाराजा राम वर्मा** / नैया	२६
इतिहास	: बुंदेलखंड का स्वाधीनता आंदोलन और पत्र-पत्रिकाएँ / **संतोष भदौरिया** **शब्द-संस्कृति एवं इतिहासबोध का समवेत स्वर** / नरेंद्र पुंडरीक	२९
आत्मकथा	: गुड़िया भीतर गुड़िया / **मैत्रेयी पुष्पा** **तुच्छता का हठी आत्मप्रलाप** / दामोदर दत्त दीक्षित	३१
स्मरण	: लखनऊ रिवर-बैंक कॉलोनी-ऐनी आपा/ **जाहिदा हिना**	३५
विरासत	: **'आलोचना' क्यों?** / शिवदान सिंह चौहान	३८
नेपथ्य	: उम्मीद है, आएगा वह दिन / **एमील जोला** **मैंने जोला का अनुवाद क्यों किया?** / द्रोणवीर कोहली	४२
धरोहर	: **मैं और बिहार बंधु** / रामनिरंजन परिमलेंदु	४८
देशान्तर	: इन अदर रूम्स, अदर वंडर्स / **दानियाल मुईनुद्दीन** **सामंती समाज का पाकिस्तानी चेहरा** / प्रभात रंजन	५२
समय-जुलाहा	: **चिर लांछिता भारतीय नारी की आवाज** / कुबेर दत्त	५५
साहित्य-कोलाहल	: **लंदन में पुस्तक मेला** / प्रज्ञाचक्षु	६०
आगमन	: **भारतीय क्रिकेट का अमिताभ बच्चन** / अनंत विजय	६४
फिल्म-वार्ता	: **हिंदी फिल्मों के स्वर्णयुग का स्मरण** / प्रदीप पंत	६६

1857 : वह कई दुखों को जोड़कर लड़ी गई एक लड़ाई थी

इस बार संपादकीय की जगह युवा कवि पंकज राग की एक लम्बी कविता उद्धृत कर रहे हैं क्योंकि हमें लगा कि अतीत के इतिहास की स्मृतियों को हम इसी तरह उठाते सार्थक विमर्श कर सकते हैं।

1857 के डेढ़ सौवें वर्ष में

पंकज राग

कॉलेज में मेरे एक प्रोफेसर कहा करते थे
कि अगर संघ लोकसेवा आयोग वाले मल्टिपल च्वाइस प्रश्नों में पूछें कि 1857 क्या था
क्या वह एक सिपाही विद्रोह था, क्या वह धर्म को लेकर लड़ा गया?
क्या वह जनसाधारण की लड़ाई थी या क्या वह राजसत्ता की वापसी का युद्ध था?
और आपको इनमें से सिर्फ एक चुनना हो तो आप क्या करेंगे?
क्या आप इतिहास के अच्छे विद्यार्थी की तरह एक विकल्प की अनिवार्यता पर
उँगली उठाते हुए चारों को चुनेंगे
या फिर प्रतियोगिता में सफलता के लिए
इतिहास को तिलांजलि देकर किसी एक पर निशान लगाएँगे?

मुझे याद है उस दिन हममें से कोई कुछ नहीं बोला
जब आप सब जानते हो कि आप ऐसी स्थिति में क्या करेंगे
पर ऐसा करने में थोड़ी शर्म भी महसूस हो
तो, फिर आप बोल नहीं पाते
हाँ, क्लास के बाहर मेरे कुछ दोस्तों ने ठहाका भी लगाया
और कहा कि कोई गधा ही होगा जो चारों को टिक करेगा
जानबूझकर एक पूरे सवाल के अंक कौन खोना चाहेगा
वह भी सही इतिहास के नाम पर।
कुछ दोस्त असमंजस में भी रहे
कुछ ने थोड़ी कोफ्त से कहा कि आखिर ऐसे बेतुके सवाल सेट भी
तो इसी तरह के प्रोफेसर करते हैं
इस तरह 1857 उस दोपहर हमारी चर्चा में रहा
हम 1857 पर ही बातें करते-करते पुरानी दिल्ली के रिज की तरफ निकल गए
शायद उन स्थानों के बहुत करीब जहाँ यह लड़ाई लड़ी गई थी
हमारे पास से गुजरने वाले लोगों की बातों में इतिहास दूर-दूर तक नहीं था
हमारी बातों में भी अगर था
तो शायद सिर्फ़ इसलिए क्योंकि उससे हमारा अपना भविष्य जुड़ गया था

हमारे सामने एक परीक्षा थी
जिसमें हमें बैठना था और सफल होना था
और इसके लिए एक व्यापक बहुआयामी इतिहास को छोटा कर
एक सीमित विकल्प चुनने के अपने निर्णय पर
बहस करके भी हम अडिग थे
हम शायद जायज भी थे क्योंकि प्रश्नपत्रों की सत्ता को हम चुनौती नहीं दे सकते थे
पर यहीं 1857 के तमाम प्रतिभागियों से हम छोटे भी रहे
जिन्होंने चाहे कैसे भी या किसी भी कारण से
उस समय की औपनिवेशिक सत्ता को ललकारा था।

वैसे कुछ भी न चुनना भी एक विकल्प हो सकता है
और चुनने और न चुनने के बीच भी
एक ऊबड़-खाबड़ जमीन हो सकती है
जिसके मध्य भी समतल हिस्से बन जाया करते हैं
कौन जानता है सिपाहियों द्वारा जोखन बाग में गोरों के कत्लेआम के बाद भी
झाँसी की रानी फरवरी 1858 तक अंग्रेजों को चिट्ठियाँ लिखकर
ऐसे कौन से हिस्से तलाश रही थी
और इस जमीन पर फिर ऐसी क्या हलचल हुई
कि उसी रानी में लोगों ने अपनी आवाज ही नहीं
और भी न जाने क्या-क्या ढूँढ लिया
वह खुद गुड़धानी खाकर भी सिपाहियों को पेड़ा-जलेबी खिलाने वाली हो गई
और बुंदेलखंडी विवाह गीतों में
उसकी लड़ाई सत्य और झूठ के बीच की लड़ाई का गाली गीत बनकर गूँजती रही।

हरबोलों की मिरजई और मंजीरों की वे बातें
1857 के इस डेढ़ सौवें वर्ष में फिर याद तो आईं
पर याद आना कोई विकल्प नहीं था
याद को सन्दर्भों से न जोड़ने का विकल्प इस समय तक
बहुत सुविधाजनक हो गया है हम सबके लिए
और 1857 के इस डेढ़ सौवें वर्ष तक तो
शायद कॉलेज के हम सभी दोस्त
अपनी-अपनी जमीनों में दूर तक धँस चुके हैं।
खतरा अगर साफ नहीं हो तो वक्त बीतते देर नहीं लगती
बहुत धीमे बीते थे अठारह सौ सत्तावन और अट्ठावन के वे दो वर्ष
क्योंकि खतरा सिर्फ गद्दियों और ओहदों
या जमीन और जायदाद का नहीं था
लगान का बोझ हो, अफीम या नील की थोपी हुई मारक खेती हो
या रिवाजों और कायदों की जगह ऊँचे खम्भे वाली अदालतें हों
सभी कुछ-कुछ अजीबोगरीब और ऐसा था
जैसा पहले कभी देखा न था
न हुनर की कद्र, न पुश्तैनी रवायतों की परवाह, न खानदानी इज्जत की फिक्र
मानो एक औपनिवेशिक झोंका हो जो बढ़ता जा रहा हो
और पूरी संस्कृति ही हिल गई हो।

1857 के बारे में कितना कुछ लिखा गया जो हमने पढ़ा भी था

पर शायद यह नहीं समझ पाए
कि यदि संस्कृति की आम परिभाषा जीवनशैली होती है
तो इसी संस्कृति की खास परिभाषा संघर्ष भी हो सकती है
समझ जाते तो शायद दुनिया तो न बदल पाते
पर इतने धँसे भी न होते कि निकलना गैर-जरूरी मान लें
हमसे अधिक 1857 को तो साथ लेकर चले हैं वही उपनिवेशी ताकत
जो अब सभी आडम्बर छोड़ पूरे निवेशी हैं
भौतिक जगत से लेकर अंतर्चेतना तक चलता है निवेश का खेल
तभी तो अब खतरे साफ नहीं नजर आते
वक्त इतनी तेजी से बीतता है खिलौनों के बीच
कि विचार बन नहीं पाते, नजरें टिक नहीं पातीं
जीवन शैली का अर्थ मानो एक क्षण हो गया हो
और क्षण से क्षण की कुलांचों में पूरी पृथ्वी को नाप लेना ही माद्दा हो
क्योंकि पृथ्वी अब एक-सी होने का आभास देती है।

पर पृथ्वी एक है कहाँ?
न कभी थी, न है
जब-जब यह अहसास जागता है तो 1857 जैसी कोई चीज होती है
जब-जब यह अहसास मरता है तो 2007 बीतता चला जाता है
और 1857 के एक सौ पचास वर्ष बाद
इलाहाबाद की सड़कों पर चलते हुए हम भूल जाते हैं कि तीखा संघर्ष ऐसा
होता है
कि इसी शहर में किसी साधारण विद्रोही द्वारा
न सिर्फ कोयले के गोदाम को ब्रिटिश सत्ता का प्रतीक मानकर जलाया गया
बल्कि कोयले को भी लूटा नहीं वहीं स्वाहा कर डाला गया
हमें याद नहीं आता भोजपुर के धोबियों का वह भावुक-सा बिरहा
कि बाबू कुँअर सिंह के राज बिना अब कपड़ों को केसरिया से न रंगाएँगे
हमें मिट्टी में रची-बसी वह रागात्मक धुनें भी नहीं याद रहतीं
जिसमें
छोटे जाने-पहचाने प्यार कैमूर की पहाड़ियों, पिता जैसे जंगल और कुँअर सिंह के भर-भर कटोरा दूध पीने वाले बछड़ों से लिपटते हैं
हमें होली की उस ऊपर को नीचे और नीचे को ऊपर कर देनेवाली
अर्थव्यंजकता भी याद नहीं
जब देवर-भाभी की ठिठोली लोकगीत में मूर नामक एक अंग्रेज अधिकारी के सिर को
काटकर भाभी के पास लाने का रूप धर
हास्य से बढ़कर एक बड़ी ताकत का बड़ा उपहास बनकर सामने आई थी
छोटी-छोटी ऐसी कितनी ही बातें हमें याद नहीं
छोटी बातों से बनी बड़ी-बड़ी बातें भी शायद इसीलिए
बिना पत्तों के पेड़ सरीखे लगने लगी हैं
और शहरों में पेड़ यूँ भी कम हो चले हैं
रहते तो भी उन पर खुले आम फाँसी तो अब दी नहीं जा सकती
जमाना बदल गया है
अब भी मौत कलेवरों में छुप-छुपाकर आती तो जा रही है
पर उसकी आहटें नहीं आतीं
और लगता है जैसे समय बहुत जल्दी बीत रहा है।

इतनी ही जल्दी ढहते जा रहे हैं 1857 के कई-कई अवशेष
जिन्हें आज तक स्मारक घोषित नहीं किया गया
अभिलेखागारों की सम्भ्रांत नस्तियों में जो न मिले
उसकी विश्वसनीयता हमारे इतिहास में संदिग्ध हो जाती है
पुराने पीले कागजों की महक को प्रामाणिक मानने का एक अर्थ यह भी रहा है
कि ऐसी कई आवाजें जिन्होंने कहा कि सब कुछ लाल हो जाएगा
उनकी तलाश मुल्तवी रखी गई
और जब अंतत: शुरू की गई
तो उनकी अनुगूँज बड़ी धूमिल हो चुकी थी
मंडला के उन जंगलों के बहुत सारे पेड़
दुखनू और मंगनू गोंड की यादों को लिए हुए ही जा चुके थे
चिड़ियों को प्रशिक्षित करके संदेश भेजने की कला,
गोखरू से अंग्रेजी सिपाहियों को फँसाने का फन
खैरी में भेड़ों के गले में लालटेन बाँधकर अंग्रेजों को छकाने का मजा
इन भावनाओं को इतिहास में शामिल कराने की
ताकत नहीं है उन आदिवासियों के पास
उनकी संस्कृति में ऐसे गीतों की गुनगुनाहट तो है
पर वह गुनगुनी धूप बनकर निखरती नहीं
वह चाँदनी रात में ही भीमा भीमा का खेल खेलती है
बिना खिलौनों के
सिर्फ हम आशा के साथ कि भीमा नायक फिर आएगा, उसे फिर आना है
भीमा को आवनो से, दुख सारा कोटी जोसे
आज भी गाते हैं निमाड़ के भील
1857 को डेढ़ सौ वर्ष बीत चुके हैं
कुछ दुख अभी तक नहीं बीते।

गौर करें तो 1857 के दुखों की कहानी बहुत बड़ी है
गरीबी के दुख, अमीरी के दुख
सचमुच के दुख, कुछ पाले हुए दुख
सच्ची भूख से व्याकुल दुख
झूठी शान से परेशान दुख
वह कई दुखों को जोड़कर लड़ी गई एक लड़ाई थी
तो वह कुछ दुखों को छोड़कर भी लड़ी गई एक लड़ाई थी
कमजोर जोड़ों को बाँधता एक दुश्मन था
कुछ दुख इसलिए नहीं बीते कि दुश्मन शक्तिशाली था
और कुछ दुख जैसे कभी बीतते नहीं
फिर भी लड़े क्योंकि उम्मीद जिंदा थी
उम्मीद भी तो नहीं बीतती
खतरों से विचलित उम्मीद तो बिल्कुल नहीं
खतरे साफ हों तो उम्मीद जिन्दा रहती है
आग सुलगती है बुझती नहीं
पर खतरों को देखना जरूरी है
1857 के डेढ़ सौ वर्ष बाद भी नजर आने चाहिए खतरे
स्पष्ट दिखाई न दें तो उन्हें खोजना चाहिए, आशंकाओं की पदचाप के सहारे
उस अंग्रेज सिपाही की तरह जो अवध की रातों में

तुम कहाँ छुपे ओ बेनीमाधो के गीत गाते हुए
सुबह का इंतजार करता था।

वैसे सोचिए तो गाँव से गाँव रोटियों को क्रम से बाँटते जाना
आशंका को यथार्थ की जुबान देने की एक अजीब परम्परा थी
जैसे कुछ बोलिए न बोलिए पर कुछ होने वाला हो
जैसे महामारी के समय होता था
एक ऐसे समाज में
जहाँ रोटियाँ मुहाल थीं और आशंकाएँ भरपूर
जहाँ रोटी आशा थी
और यह यक़ीन था कि यथार्थ से ही आशा की लहर बहती है।

पर यह लहर आगे नहीं पीछे जाती थी
कारतूस की चर्बी, आटे में हड्डियों का चूरा, मिलावट की ढेर सारी अफवाहों के पीछे
अपनी परछाइयों से चिपकने का मोह इतना था
कि सिर्फ बाप-दादों के जमाने ही सुनहरे लगते थे
उसकी बातें ही नैतिक लगती थीं
मलाल शायराना हो या सैनिकाना
पर अंग्रेजों की खिलाफत के हर पहलू के पीछे
पवित्रता और प्रदूषण की नानियों और दादियों की वही पुरानी कहानियाँ थीं
जिन्हें सुनकर गाँव-गाँव के सवर्ण
बचपन से ही बड़े-बूढ़ों जैसी बातें करने लगते थे।

ऐसी कहानियों ने कुछ तबकों को हमेशा अलग ही रखा है
कुछ पारम्परिक सामन्ती आचारों से विभेद का दंश कम तो हो सकता था पर मिट नहीं सकता था
लड़े वे तबके भी कहीं-कहीं
कई बार अनुचरों के रूप में
कभी-कभी सत्ता के स्वायत्त प्रतिरोध की तरह भी
पर पवित्रता को बचाने के उस युद्ध में
उनकी अस्पृश्यता का निजात नहीं था
जिस दुनिया को वापस लाए जाने की लड़ाई थी
वहाँ वे अछूत ही रहते
शायद अंग्रेजों से भी अधिक
जिन व्यवहारों, आचारों और नैतिकताओं को धर्म मानकर लड़ा गया
उनकी खड्ग पूजा में
युद्ध के पहले भी शामिल होने की मनाही थी उन्हें
और अगर जीतते तो भी जूठन ही मिलती, प्रसाद नहीं।

शायद इसलिए भी सब कुछ लाल नहीं हुआ 1857 में
पौरुष और मर्दानगी की तमाम लोकोक्तियों के बीच
जाति और गोत्र के समस्त गठबंधनों के बीच
गढ़ियाँ और किले बिखरते चले गए
अवध, बुंदेलखंड और भोजपुर के गाँवों में घूमते हुए
उनके पत्थर आज भी मिल जाएँगे
और आपसे कहेंगे कि बड़ी लड़ाइयाँ ऐसे मुहावरों से नहीं जीती जा सकतीं

आज तो और भी नहीं
जब द्रुत चलायमान छवियों के बीच से ही दुश्मन पर नजर ठहरानी हो
और समर्थन लेने के लिए
गति के भ्रम में चल रहे समुदायों को एक खास दिशा दिखाना हो।

आज 1857 के इस डेढ़ सौवें वर्ष में
जब उस विद्रोह की तहें हम ढूँढते हैं
तो बहुत उलझा-उलझा लगता है सब
हमारी आँखों में बीते डेढ़ सौ वर्षों की छायाएँ भी लहरा जाती हैं
इन छायाओं के अपने ताने-बाने हैं
और आजादी अपनी भिन्न आकृतियों में कभी चमकती तो कभी बेहद धूमिल दिखती है
लेकिन छायाओं के इस खेल में भी
1857 एक लड़ाई के रूप में गम्भीर बना रहता है
भले ही शरीर कमजोर हो
मन भले ही अपनी सीमाओं के अंदर जकड़ा हो
पर चेहरे की गम्भीरता को नकारा नहीं जा सकता
लड़ना भी बड़ी बात होती है
यह एक उठा हुआ कदम होता है
और हार भी इसे वापस जमीन में उस तरह धँसा नहीं पाती
जैसे आज आभासों के मायाजाल में विचरते हुए भी हम आप धँसे हैं
राणा बेनीमाधव की अपनी सीमाएँ थीं, सच है
उस जमाने की भी अपनी सीमाएँ थीं
कर्म को भी धर्म के मुहावरे दिए जाते थे
पर यह भी सच है कि 1857 ने ईश्वर और भाग्य को भी संघर्ष से ही जोड़ा, निष्क्रियता से नहीं
वरना इस खुले-खुले देश में तो आज हम अपने रहनुमाओं से इतना भी नहीं कह पाते कि
'तुम तो जाए मिल्यो गोरन से हमका है भगवाना'।

(साभार, नया ज्ञानोदय, जून 2009)

वैसे हमारी इच्छा थी कि इस बार समकालीन हिन्दी साहित्य के परिदृश्य पर टिप्पणी करें। लेकिन यह कविता मुझे इतनी अच्छी लगी कि हमने अपना सम्पादकीय लिखना मुल्तवी कर दिया। इस बीच हमसे विदा हुए साहित्यकार मोती बी.ए., हरेकृष्ण कौल (कश्मीर), प्रो. कमर रईस, चंद्रकिरण सौनरेक्सा, अंग्रेजी लेखिका कमला सुरैया (दास), प्रख्यात रंगकर्मी हबीब तनवीर और गीतकार ओमप्रकाश आदित्य के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

कागज और प्रकाशन सामग्री की लगातार बढ़ती कीमत के कारण विवश होकर हमें इस अंक से पत्रिका का मूल्य प्रति अंक 20 रु. करना पड़ रहा है। हमें आशा है, पाठक हमारी सीमा को समझकर इसे वहन करेंगे।

पत्रिका के पिछले अंक के संपादकीय में हमसे दो भूलें हुई हैं, जिसका हमें खेद है। 'प्रकर' पत्रिका के संपादक थे-वि.स. विद्यालंकार, प्रताप विद्यालंकार नहीं, जैसा प्रमादवश हमने उल्लेख किया था। इसी तरह भूलवश पत्रिका के आवरण पृष्ठ का रेखांकन करने वाले अशोक सिद्धार्थ का नाम भी छूट गया था। हिन्दी में आज लगभग ढाई-तीन सौ पत्रिकाएँ निकलती हैं, नियमित या अनियमित और ये पत्रिकाएँ हम तक पहुँचती हैं। इन पत्रिकाओं के बीच 'पुस्तक-वार्ता' को अपने समय, समाज और सरोकारों से जोड़ते हम विनम्रता के साथ जिस तरह लाना चाहते हैं, उसकी सही रूपरेखा क्रमशः आगामी अंकों में उभरेगी। बस, हम आपको यही आश्वासन दे सकते हैं कि यह पत्रिका आपको निराश नहीं करेगी। मेरी 'भूल-गलती' पर यदि आप उँगली उठाएँगे तो हमें अच्छा लगेगा।

esjs vè;;u dk fo"k;&Øe

jes'k mik/;k;

मेरी एक कहानी है 'लाला बुकसेलर', जो मेरे ग्यारहवें कहानी संग्रह 'डॉक्यूड्रामा तथा अन्य कहानियाँ' में संकलित है। यह कहानी मैंने अपनी किशोरावस्था के अनुभवों के आधार पर लिखी थी। यह 1947 के आसपास उत्तरी भारत के एक कस्बे में साहित्यिक पुस्तकों की दुकान चलाने वाले एक बुकसेलर की कहानी है, जो नष्ट होती हुई पुस्तक संस्कृति को बचाने की आदर्शवादी किन्तु असफल कोशिश करता है।

मैं उस पुस्तक संस्कृति में पला हूँ, जिसमें पुस्तक को विद्या माता कहते थे और हाथ से गिर जाने पर उसे उठाकर माथे से लगाते थे। अब समय बदल गया है। नई टेक्नोलॉजी ने लिखने और पढ़ने का ढंग भी काफी बदल दिया है। फिर भी महान रूसी लेखक मक्सिम गोर्की के ये शब्द आज भी मेरे लिए सार्थक हैं कि ''उन किताबों से प्यार करो जो ज्ञान का स्रोत हों, क्योंकि सिर्फ ज्ञान ही वंदनीय होता है, ज्ञान ही तुम्हें आत्मिक रूप से मजबूत, ईमानदार और बुद्धिमान, मनुष्य से सच्चा प्रेम करने लायक, मानवीय श्रम के प्रति आदरभाव सिखानेवाला और मनुष्य के अथक एवं कठोर परिश्रम से बनी भव्य कृतियों को सराहने लायक बना सकता है।''

मैं जब पुस्तकों से अपने संबंध के बारे में सोचता हूँ, तो मुझे बदलते हुए दृश्यों के रूप में कुछ जगहें याद आती हैं, कुछ लोग याद आते हैं और उनके सन्दर्भ में याद आती है पुस्तकें। आइए, कुछ दृश्य आपको दिखाऊँ।

रमेश उपाध्याय

मैं जब पुस्तकों से अपने सम्बन्ध के बारे में सोचता हूँ, तो मुझे बदलते हुए दृश्यों के रूप में कुछ जगहें याद आती हैं, कुछ लोग याद आते हैं और उनके सन्दर्भ में याद आती हैं पुस्तकें। आइए, कुछ दृश्य आपको दिखाऊँ।

दृश्य–1

बुलंदशहर जिले में गंगा किनारे की बस्ती बिहारघाट। वहाँ की गायत्री संस्कृत पाठशाला। मेरे पिता पाठशाला के आचार्य हैं। आचार्य-निवास में एक कमरा उनका अध्ययन कक्ष है, जिसकी दीवारों में बनी अलमारियों में उनकी पुस्तकें सजी हुई हैं और वे अपनी चौकी पर लेटे या बैठे कोई पुस्तक पढ़ रहे हैं। पढ़ते-पढ़ते रजिस्टर में कुछ लिख भी लेते हैं। मैं स्कूल जाने लगा हूँ। तीसरी कक्षा में पढ़ता

हूँ। खिड़की से पिताजी को पढ़ते देख सोचता हूँ : मैं कब इन पुस्तकों को पढ़ सकूँगा?

दृश्य–2

ऋषिकेश में गंगा के ऐन किनारे कोलघाटी नामक निर्जन–सी एक जगह। पिताजी ऋषिकेश की किसी बड़ी संस्कृत पाठशाला में आचार्य नियुक्त हुए हैं। वे विभिन्न स्थानों पर कई पाठशालाओं में पढ़ा चुके हैं। वे जहाँ भी जाते हैं, अपने परिवार और अपनी पुस्तकों के साथ जाते हैं। सो उनके साथ हम भी आए हैं– यानी माँ, मैं, मेरी बहन और दो भाई–और उनकी पुस्तकें, जो इतनी अधिक हो गई हैं कि लाल कपड़े की कई गठरियों में बाँधकर लाई गई हैं। एक गठरी पिताजी के हाथ के लिखे रजिस्टरों की भी है। अभी हमारे रहने की व्यवस्था नहीं हुई है, अत: हम अस्थायी तौर पर एक धर्मशाला में रह रहे हैं। हमारा ज्यादातर सामान अभी बँधा हुआ ही है। एक रात पिताजी को अचानक तेज बुखार आता है और सुबह उनकी मृत्यु हो जाती है। माँ विधवा होकर हम बच्चों और पिताजी की पुस्तकों के साथ गाँव लौटती हैं।

दृश्य–3

एटा जिले में एक छोटा–सा गाँव बढ़ारी बैस। वर्षों पहले छोड़ा हुआ हमारा कच्चा मकान लगभग खंडहर हो चुका है। माँ ने गाँव के लोगों की सहायता से उसे जैसे–तैसे रहने लायक बनाया है। हम चारों भाई–बहन इसी मकान में पैदा हुए हैं। पिताजी बदायूँ की एक पाठशाला में पढ़ाने के लिए जाते समय जब हम सबको साथ ले गए थे, मैं बहुत छोटा था। फिर भी मुझे याद है कि मकान के मुख्य दरवाजे के पास वाला कमरा 'पिताजी का कमरा' कहलाता था और उसकी एक दीवार में 'भगवानजी का आला' था। माँ उस कमरे में पूजा–पाठ करती थीं और पिताजी उसमें पढ़ते–लिखते थे। माँ ने फिर से उस कमरे को वैसा ही रूप दे दिया है। बस, एक परिवर्तन के साथ कि एक लम्बी दीवार पर तख्तों का टांड बनवाया है और लाल कपड़े में बँधी पुस्तकों की वे गठरियाँ उस पर रखवा दी हैं, जो बिहारघाट में बाँधी गई थीं और तब से अभी तक नहीं खुली हैं।

दृश्य–4

बढ़ारी बैस का प्राइमरी स्कूल। जुलाई में नया सत्र शुरू हुआ है। मेरा दाखिला चौथी कक्षा में हो गया है। स्कूल भी चौथी कक्षा तक का ही है। आगे पढ़ने के लिए मुझे गाँव के बाहर किसी बड़े स्कूल में जाना होगा। कई दिनों से लगातार बारिश हो रही है। मेरी किताबें और कॉपियाँ गीली–सीली हो रही हैं। गाँव की पोखर भर गई है। उसका पानी गलियों तक आ पहुँचा है। घर से स्कूल तक मैं घुटनों तक पानी में चलकर पहुँचा हूँ। पढ़ाई शुरू ही हुई है कि कोई आकर बताता है कि हमारे घर की छत गिर पड़ी है। मैं घर आकर देखता हूँ कि पिताजी के कमरे की एक कच्ची दीवार ढह गई है और मिट्टी की छत गिरी पड़ी है। दूसरे सब सामान के साथ–साथ पिताजी की पुस्तकें भी मलबे में दब गई हैं। बाद में जब कई दिनों तक लगातार होती रही बारिश के बंद होने पर मलबा हटाया जाता है, तब तक उनकी लुगदी बन चुकी है। माँ दहाड़ मारकर रोती हैं–''हाय, यही तो उनकी उम्रभर की कमाई थी।'' भगवानजी के आले में रखी माँ की 'रामचरितमानस' की पोथी भी गल गई है। 'मानस' का पाठ उन्हें नित्यप्रति करना होता है। वे कुछ पैसा देकर मुझे पाँच मील दूर तहसीली कस्बे कासगंज से दूसरी पोथी खरीद लाने के लिए भेजती हैं। मैं पैदल लौटते समय रास्ते में चलते–चलते उस पोथी को पढ़ते हुए घर लौटता हूँ। मैं ब्रजभाषी हूँ, पर शिक्षा खड़ी बोली में पाता हूँ। 'मानस' की अवधी मेरी समझ में कम आती है, लेकिन गीता प्रेस गोरखपुर से छपी उस पोथी में हर दोहे–चौपाई के बाद खड़ी बोली में जो अर्थ लिखा है, खूब समझ में आता है। बाद में उसी के सहारे मैं उसी उम्र में थोड़ी–थोड़ी करके पूरी पोथी पढ़ डालता हूँ। तब से तुलसीदास जो मेरे प्रिय कवि हुए, सो आज तक हैं।

दृश्य–5

गाँव का स्कूल चौथी कक्षा तक ही था, अत: मैं आगे की पढ़ाई के लिए कासगंज में अपने दो तयेरे भाइयों के पास रहकर पढ़ रहा हूँ। बड़े भैया वैद्य हैं और छोटे अध्यापक। दोनों विवाहित हैं, पर संतानरहित। दोनों भाइयों और भाभियों का कामकाज से बचा खाली समय पुस्तकें और पत्रिकाएँ पढ़कर गुजरता है। बड़े भैया चिकित्सा संबंधी अथवा आर्थिक और दार्शनिक किस्म की पुस्तकें पढ़ते हैं और छोटे भैया तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास। भाभियों के पढ़ने के लिए घर में 'स्त्री सुबोधिनी' और 'सती नारी' जैसी पुस्तकें हैं और 'कल्याण' पत्रिका आती है, लेकिन वे एक आना रोज के किराए पर मिलनेवाले रोमानी उपन्यास और 'माया' तथा 'मनोहर कहानियाँ' जैसी पत्रिकाएँ पढ़ा करती हैं। मुझसे अपेक्षा की जाती है कि मैं केवल अपनी पाठ्य पुस्तकें या स्कूल की लाइब्रेरी से मिलनेवाली पुस्तकें ही पढ़ूँ। लेकिन मैं चोरी–छिपे वर्जित फलों को चख लेता हूँ और इस प्रकार देवकीनंदन खत्री के तिलिस्मी उपन्यास 'चंद्रकांता संतति', 'भूतनाथ', 'रोहतास मठ', 'लुटिया पहाड़ी' आदि और ओमप्रकाश शर्मा तथा वेदप्रकाश कांबोज के ढेरों जासूसी उपन्यास पढ़ डालता हूँ। 'माया' और 'मनोहर कहानियाँ' पढ़ने से कहानी पढ़ने में रुचि हो जाने के कारण अपने स्कूल की लाइब्रेरी में जो भी कहानी संग्रह मुझे मिले हैं, मैंने पढ़ डाले हैं। इस प्रकार हाईस्कूल पास करने तक मैं गुलेरी, प्रसाद, प्रेमचंद, निराला, यशपाल, अज्ञेय, जैनेंद्र आदि हिन्दी के लेखकों की तथा हिंदी अनुवाद में उपलब्ध शरत्, बंकिम, रवींद्रनाथ आदि बांग्ला के और मंटो, बेदी, कृश्नचंदर आदि उर्दू के लेखकों की बहुत–सी कहानियाँ पढ़ चुका हूँ।

दृश्य–6

परिवार की जिम्मेदारी संभालने लायक बनने के लिए मैं हाईस्कूल के बाद पढ़ाई छोड़कर अपने मामा के पास दिल्ली आ गया हूँ और प्रेस का काम सीखने के लिए लाजपतनगर के एक सरकारी ट्रेनिंग सेंटर में एक साल का 'डिप्लोमा इन पेपर प्रिंटिंग' का कोर्स कर रहा हूँ। मामाजी आकाशवाणी में काम करते हैं और लोदी कॉलोनी के एक सरकारी क्वार्टर में

रहते हैं। वे हिंदी भाषा और साहित्य की उन्नति के लिए अपने मित्रों के सहयोग से एक संस्था और उसका पुस्तकालय चलाते हैं। पुस्तकालय छोटा-सा है और लोदी कॉलोनी की मेन मार्केट में डॉक्टर दुआ की दुकान के पिछवाड़े है। मामाजी ने मेरी ड्यूटी लगा दी है कि मैं अपने ट्रेनिंग सेंटर से लौटकर शाम को रोज दो घंटे पुस्तकालय में बैठूँ और उसके जो सदस्य पुस्तक लेने या लौटाने आएँ, उनकी सेवा करूँ। ऐसे लोग यहाँ कम ही आते हैं, अत: मैं बैठा-बैठा पुस्तकें पढ़ता रहता हूँ। संयोग से यहाँ कहानी-उपन्यास की कम और कविता, नाटक, निबंध, जीवनी, आत्मकथा और यात्रा-वर्णन से संबंधित पुस्तकें अधिक हैं। यहाँ एक वर्ष में मैंने मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, बच्चन, दिनकर आदि के जो भी कविता संग्रह उपलब्ध हैं, सब पढ़ लिए हैं। कुछ तो दो-दो और तीन-तीन बार। मामाजी के पड़ोस में एक साहित्यकार रहते हैं पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'। उन्होंने अपनी कई पुस्तकें मामाजी को भेंट कर रखी हैं। मैंने वे भी पढ़ डाली हैं। उग्रजी यह जानकर प्रसन्न हुए हैं और उन्होंने मुझे यह छूट दे दी है कि मैं उनके निजी संग्रह से जो भी पुस्तक पढ़ने के लिए लेना चाहूँ, ले सकता हूँ।

दृश्य-7

प्रेस का काम करते हुए मैं कई शहरों की खाक छानकर अंतत: अजमेर आ पहुँचा हूँ और केशव आर्ट प्रिंटर्स में काम करता हूँ, जिसमें प्रकाश जैन और मनमोहिनी द्वारा संपादित पत्रिका 'लहर' छपती है। इस बीच मैंने प्राइवेट परीक्षा देकर इंटरमीडिएट पास कर लिया है। 'लहर' के संपादक यह देखकर प्रसन्न होते हैं कि यह कंपोजिटर पढ़ा-लिखा है और साहित्य की भी कुछ समझ रखता है। मैं उनके घर और दफ्तर में जाने लगा हूँ और उनके निजी संग्रह से पुस्तकें ले-लेकर पढ़ने लगा हूँ। उनकी शर्त है कि एक बार में एक ही किताब मिलेगी और दूसरी तब मिलेगी, जब मैं पहली लौटाऊँगा और उन्हें बताऊँगा कि उसमें क्या है। इस प्रकार अब मैं केवल पढ़ता नहीं, पुस्तकों पर चर्चा भी करता हूँ, बहस भी करता हूँ। यहाँ मैं अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर, नागार्जुन, त्रिलोचन, धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना आदि कवियों को और मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, अमरकांत, शेखर जोशी, शैलेश मटियानी, राजकमल चौधरी, रमेश बक्षी आदि कथाकारों को पढ़ता हूँ। 'लहर' कार्यालय में राजस्थान के और बाहर के भी लेखक आते रहते हैं। वहीं एक दिन राममनोहर लोहिया से मेरी भेंट होती है और बाद में प्रकाश जैन मुझसे कहते हैं-''तुम लोहिया को जरूर पढ़ो।'' लेकिन मनमोहिनी सलाह देती हैं-''लोहिया को पढ़ने से पहले गांधी और नेहरू को पढ़ो।''

दृश्य-8

अब मैं जोधपुर के साधना प्रेस में काम कर रहा हूँ, जिसके मालिक हरिप्रसाद पारीक प्रगतिशील विचारों के साहित्यप्रेमी सज्जन हैं। उनके प्रेस में कृष्णवल्लभ शर्मा द्वारा सम्पादित हिंदी पत्रिका 'कविताएँ', ए.पी. व्यास द्वारा सम्पादित अंग्रेजी पत्रिका 'नोइंग राजस्थान' और नारायण भाटी द्वारा सम्पादित राजस्थानी पत्रिका 'परम्परा' छपती है। विजयदान देथा उर्फ बिज्जी की राजस्थानी लोककथाओं के संकलनों की शृंखला 'बातां री फुलवाड़ी' भी यहीं से छप रही है। अत: साधना प्रेस में ये सब तो आते ही हैं, कोमल कोठारी और मरुधर मृदुल जैसे अन्य लेखक भी आते हैं। 'लहर' में मेरी पहली कहानी छपी है और 'कविताएँ' में तीन कविताएँ, इसलिए सब मुझे जान गए हैं। पारीकजी ने अपनी बेटी को रोज एक घंटा पढ़ा देने का काम मुझे सौंपा है, अत: मैं उनके घर जाने लगा हूँ। घर पर उनकी पुस्तकों का बड़ा अच्छा संग्रह है, जिसमें हिन्दी, अंग्रेजी और राजस्थानी तीनों भाषाओं की पुस्तकें हैं। राजस्थानी मैंने सीख ली है (जैसे अजमेर में एक गुजराती परिवार के सम्पर्क में रहने से गुजराती सीख ली थी), लेकिन अंग्रेजी की पुस्तकें नहीं पढ़ पाता हूँ, जबकि इंटरमीडिएट तक अंग्रेजी मैंने मुख्य विषय के रूप में पढ़ी है। 'नोइंग राजस्थान' के सम्पादक ए.पी. व्यास को अपनी समस्या बताता हूँ, तो वे सुझाव देते हैं, ''अंग्रेजी के उपन्यास पढ़ो और अंग्रेजी की फिल्में देखो।'' मैं घंटाघर के पास के एक कबाड़ी से नेपोलियन बोनापार्ट के जीवन पर आधारित एक अंग्रेजी उपन्यास खरीदता हूँ और शब्दकोश की सहायता से पढ़ने की कोशिश करता हूँ। आश्चर्य की बात, उपन्यास के आरम्भिक पृष्ठ जितनी कठिनाई से पढ़े गए, अन्तिम पृष्ठ उतनी ही आसानी से पढ़े जाते हैं। अंग्रेजी फिल्में शुरू में बिल्कुल पल्ले नहीं पड़तीं, पर धीरे-धीरे वे भी समझ में आने लगती हैं। व्यासजी को अपनी यह प्रगति बताता हूँ, तो वे खुश होते हैं और अपने पुस्तक संग्रह से लाकर मुझे एक उपन्यास पढ़ने को देते हैं-मक्सिम गोर्की का 'मदर'।

दृश्य-9

मैं दिल्ली आ गया हूँ और दिल्ली प्रेस से निकलनेवाली पत्रिका 'सरिता' का उप-सम्पादक हो गया हूँ। मेरी कुछ कहानियाँ 'लहर', 'माध्यम', 'धर्मयुग' आदि में छप चुकी हैं और मैं शाम को टी-हाउस में लेखक की हैसियत से बैठने लगा हूँ। हिन्दी साहित्य में यह 'अकविता' और 'अकहानी' का दौर है। वैचारिक फैशन अस्तित्ववाद का है और साहित्यिक फैशन एब्सर्डिटी का। दूसरे लेखकों की देखा-देखी मैं एक तरफ सार्त्र, कामू, काफ्का आदि को पढ़ता हूँ, तो दूसरी तरफ सेम्युएल बैकेट, ज्यां जेने, एडवर्ड एल्बी आदि को। अमेरिका के बीटनिक कवियों की तर्ज पर बांग्ला में 'भूखी

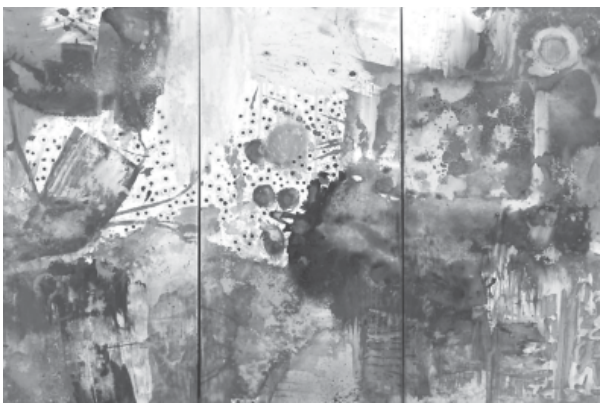

पीढ़ी', 'नंगी पीढ़ी', 'श्मशानी पीढ़ी' आदि का शोर सुनता हूँ, तो एलन गिंसबर्ग, विलियम बरोज आदि को अंग्रेजी में और मलय रायचौधुरी, शक्ति चट्टोपाध्याय आदि को बांग्ला से हिन्दी में किए गए अनुवादों के रूप में पढ़ता हूँ। लेकिन टी-हाउस में कभी-कभी राममनोहर लोहिया दिख जाते हैं, तो प्रकाश जैन की बात याद आती है, ''लोहिया को पढ़ो''। और साथ ही मनमोहिनी की बात, ''लोहिया से पहले गांधी और नेहरू को पढ़ो।'' मैं गांधी को पढ़ता हूँ और उनकी छोटी-सी पुस्तक 'हिंद स्वराज' सदा के लिए मेरी प्रिय पुस्तक हो जाती है। नेहरू मुझे उतना प्रभावित नहीं करते, फिर भी उनकी 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' मुझे अच्छी लगती है। लेकिन लोहिया मुझे ज्यादा प्रभावित नहीं करते।

दृश्य-10

मैंने दिल्ली प्रेस की नौकरी छोड़ दी है और फ्रीलांसिंग (लिखकर पैसा कमाने का काम) करने लगा हूँ। देखता हूँ कि कई फ्रीलांसर पत्र-पत्रिकाओं के दफ्तरों में जाकर संपादकों से काम माँगते हैं और किसी भी विषय पर लिखने या अनुवाद करने का जो भी काम मिल जाए, किसी भी कीमत पर करने को तैयार रहते हैं। मुझे यह अपमानजनक लगता है। दूसरी तरफ मैं यह देखता हूँ कि वैज्ञानिक विषयों पर हिन्दी में लिखनेवाले लोग बहुत कम हैं, इसलिए वे जो कुछ भी लिखते हैं, तुरंत छप जाता है और उन्हें उसका पारिश्रमिक भी अच्छा मिलता है। मैंने विज्ञान विधिवत कभी नहीं पढ़ा, लेकिन वैज्ञानिक खोजों तथा आविष्कारों में मेरी रुचि है। मैं उनके बारे में पढ़ना और लिखना शुरू करता हूँ और जल्दी ही विज्ञान लेखक के रूप में मान्य होकर सम्मानपूर्वक पैसा कमाने लगता हूँ। दूसरे, मैं आकाशवाणी और दूरदर्शन के लिए नाटक लिखना शुरू करता हूँ और पाता हूँ कि मौलिक नाटक लिखने से कहीं ज्यादा आसान है देशी-विदेशी लेखकों की रचनाओं के नाट्य रूपांतर करना। सो मैं एक तरफ प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, यशपाल, हरिशंकर परसाई, भीष्म साहनी, भगवतीचरण वर्मा आदि की और दूसरी तरफ ओ. हेनरी, चेखोव, मोपांसा, तोल्सतोय, मार्क ट्वेन आदि की रचनाओं के नाट्य रूपांतर करता हूँ। शूद्रक के संस्कृत नाटक 'मृच्छकटिकम्', यशपाल के उपन्यास 'मनुष्य के रूप' और भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'अपने खिलौने' के मेरे द्वारा किए गए नाट्य रूपांतर आकाशवाणी से धारावाहिक रूप में प्रसारित होते हैं। मार्क ट्वेन की कहानी 'दि मैन दैट करप्टेड हैडलीबर्ग' का नाट्य रूपांतर आकाशवाणी और दूरदर्शन दोनों से प्रसारित होता है। इस प्रकार एक तरफ मेरा वैज्ञानिक विषयों का अध्ययन चलता रहता है और दूसरी तरफ देशी-विदेशी कथा-साहित्य का अध्ययन।

दृश्य-11

मैं फिर नौकरी करने लगा हूँ। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में उप-सम्पादक हूँ। विज्ञान लेखक हूँ, इसलिए 'विज्ञान वार्ता' नामक स्तम्भ का और कथाकार हूँ, इसलिए कथा-साहित्य सम्बन्धी पृष्ठों का सम्पादन करता हूँ। एक शाम छुट्टी होने पर दफ्तर से निकलता हूँ, तो हिन्दी-उर्दू के कुछ लेखक मित्र मिल जाते हैं, जो वियतनाम युद्ध के सन्दर्भ में अमेरिकी सूचना केंद्र के सामने विरोध-प्रदर्शन करने जा रहे हैं। मैं वियतनाम के पक्ष में और अमेरिका के विरुद्ध हूँ, अत: उनके साथ चला जाता हूँ। अगले दिन 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के प्रथम पृष्ठ पर विरोध-प्रदर्शन के समाचार के साथ जो तस्वीर छपती है, उसमें मैं भी हूँ। उसी दिन शाम को 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के सम्पादक रामानंद दोषी के पास के.के. बिड़ला का आदेश आ जाता है कि यह आदमी कम्युनिस्ट है, इसे तुरंत नौकरी से निकाल दिया जाए। मैं सड़क पर आ जाता हूँ और सोचता हूँ कि जबर्दस्ती कम्युनिस्ट बना ही दिया गया हूँ, तो मालूम करना चाहिए कि कम्युनिज्म क्या है? मित्रों से पूछता हूँ, तो एक मित्र कनाट प्लेस में पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस की दुकान पर ले जाकर मुझे कुछ पुस्तकें खरीदवा देते हैं-एमाइल बर्न्स की 'व्हॉट इज मार्क्सिज्म', मॉरिस कॉर्नफोर्थ की 'डायलेक्टिकल मैटीरियलिज्म' और राहुल सांकृत्यायन की 'साम्यवाद ही क्यों?' लेकिन उन्हें पढ़ने का अवसर मुझे तत्काल नहीं मिल पाता। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' से मेरे निकाले जाने की खबर मुम्बई पहुँच चुकी है। धर्मवीर भारती, जो मेरी कई कहानियाँ 'धर्मयुग' में छाप चुके हैं, किसी के जरिए यह संदेश भिजवाते हैं कि 'धर्मयुग' में वैज्ञानिक सामग्री के पृष्ठों का सम्पादन कर सकनेवाले उप-सम्पादक की जरूरत है। मैं चाहूँ, तो 'धर्मयुग' में आ जाऊँ। और मैं बम्बई चल देता हूँ।

दृश्य-12

मैं बंबई में हूँ, पर 'धर्मयुग' में नौकरी नहीं, फ्रीलांसिंग कर रहा हूँ। यहाँ आकर पता चला कि भारती को मेरे बारे में कुछ गलतफहमी थी। उनका ख्याल था कि 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में 'विज्ञान-वार्ता' स्तम्भ देखनेवाला उप-सम्पादक एम.एस.सी. नहीं, तो कम से कम बी.एस-सी. अवश्य होगा। वे यह सुनकर हैरान रह जाते हैं कि मैं तो सिर्फ इंटरमीडिएट पास हूँ। वे मुझसे कहते हैं कि 'धर्मयुग' में नौकरी पाने के लिए ग्रेजुएट होना आवश्यक है। मैं उन्हें बताता हूँ कि मैं दिल्ली विश्वविद्यालय के पत्राचार पाठ्यक्रम से बी.ए. कर रहा हूँ और कुछ महीने बाद ही उसकी परीक्षा होनेवाली है, जो मैं बम्बई केंद्र से भी दे सकता हूँ। इस पर वे कहते हैं-''तब आप यहीं रहकर परीक्षा दें। तब तक 'धर्मयुग' के लिए फ्रीलांसिंग करें। आपके लिए काम की कमी नहीं रहेगी।'' काम की कमी वाकई नहीं है। भारती तो हैं ही, 'सारिका' में कमलेश्वर हैं, 'माधुरी' में अरविंद कुमार हैं और आकाशवाणी में दिल्ली से स्थानांतरित होकर सत्येंद्र शरत् आ गए हैं, जिनके लिए मैं दिल्ली में नाटक लिखता रहा हूँ। रहने के लिए मुझे नेशनल हॉस्टल नामक गेस्टहाउस में जगह मिल गई है। मेरा कमरा सबसे ऊपर के चौथे माले पर है। दूसरे कमरों में रहनेवाले लोग दिन में अपने काम पर निकल जाते हैं, इसलिए यहाँ के शांत एकांत में लिखने-पढ़ने का काम बहुत अच्छी तरह से किया जा सकता है। बी.ए. में हिंदी और अंग्रेजी के अलावा मेरे विषय हैं अर्थशास्त्र और राजनीतिविज्ञान। बी.ए. की पढ़ाई के साथ-साथ मेरा अपना लिखना-पढ़ना भी चल रहा है। यह जानकर कि मुझे गुजराती आती है,

भारती मुझे शिवकुमार जोशी का उपन्यास 'सोनल छाया' हिंदी में अनुवाद करने के लिए देते हैं, जो 'धर्मयुग' में धारावाहिक रूप से छपता है। फिर यह जानकर कि मैं स्वयं भी एक उपन्यास लिख रहा हूँ, वे कहते हैं–''वह हमें ही मिलना चाहिए। उसे भी धारावाहिक रूप से प्रकाशित करेंगे।''

दृश्य–13

बी.ए. पास कर लेने के बाद लगे हाथ एम.ए. भी कर डालने के इरादे से मैं बम्बई से अजमेर आ गया हूँ और गवर्नमेंट कॉलेज में हिंदी एम.ए. का छात्र बन गया हूँ। हालाँकि वर्षों तक पढ़ाई छोड़कर दूसरे कामों में लगे रहने के कारण मैं अपने सहपाठियों से उम्र में काफी बड़ा हूँ (प्रकाश जैन की बेटी कल्पना, जिसे मैं एक स्कूली लड़की के रूप में जानता था, अब मेरी सहपाठिन है), लेखक बन चुका हूँ, 'धर्मयुग' में मेरा उपन्यास 'दंडद्वीप' धारावाहिक रूप से छप रहा है, इसलिए एम.ए. का छात्र बनना मुझे सींग कटाकर बछड़ों में शामिल होने जैसा लग रहा है, फिर भी एम.ए. कर लेना मैं उचित और जरूरी समझता हूँ। एक तो इस बहाने मैं हिन्दी भाषा और साहित्य से सम्बन्धित ऐसी चीजें पढ़ रहा हूँ, जिन्हें अन्यथा मैं शायद कभी न पढ़ पाता। दूसरे, दिल्ली में जो लड़की शादी के लिए मेरा इंतजार कर रही है, वह पहले ही एम.ए., बी.एड. है। एम.ए. करके मैं किसी हद तक उसके समकक्ष होना चाहता हूँ। लेकिन एम.ए. की पढ़ाई मैं कर्तव्य की तरह, मौज-मस्ती की तरह कर रहा हूँ। सहपाठियों में खूब घुल-मिल गया हूँ। हिंदी साहित्य परिषद् में सक्रिय हूँ और अपने निर्देशन में सेम्युएल बैकेट के नाटक 'वेटिंग फॉर गोदो' का हिन्दी नाट्य रूपांतर मैंने कॉलेज के रंगमंच पर प्रस्तुत किया है। कॉलेज की लाइब्रेरी बहुत अच्छी है (वी.वी. जॉन की कृपा से, जो इस कॉलेज के प्रिंसिपल रहे हैं) और मैं उसमें बैठकर एम.ए. की पढ़ाई करने के साथ-साथ देशी-विदेशी साहित्य भी पढ़ता हूँ। मसलन, दोस्तोएव्स्की की सभी प्रमुख रचनाएँ यहाँ अंग्रेजी अनुवाद में उपलब्ध हैं–'क्राइम एंड पनिशमेंट', 'ब्रदर्स करामाजोव', 'दि ईडियट' आदि–और मैं बड़ी तल्लीनता से उन सबको पढ़ता हूँ।

दृश्य–14

मैं एम.ए. की अपनी प्रथम श्रेणी के आधार पर दिल्ली विश्वविद्यालय के कॉलेज ऑफ वोकेशनल स्टडीज में प्राध्यापक हो गया हूँ। कुछ मित्रों के जरिए मेरा परिचय 'दिल्ली यूनिवर्सिटी ऑफ सोशलिस्ट ग्रुप' से हो गया है, जिसमें प्रो. रणधीर सिंह, प्रो. विपिन चंद्र, प्रो. हरबंस मुखिया जैसे कई प्रसिद्ध वामपंथी बुद्धिजीवी सक्रिय हैं। इस ग्रुप की ओर से देश-विदेश के महत्वपूर्ण इतिहासकारों, अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों आदि के व्याख्यान तथा ज्वलंत समस्याओं पर सेमिनार आयोजित किए जाते हैं। एक स्टडी सर्कल भी चलाया जाता है, जिसमें ये लोग युवा प्राध्यापकों के साथ बैठकर मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, ग्राम्शी, त्रात्स्की, रोजा लक्जेमबर्ग आदि की पुस्तकों पर चर्चा करते हैं। तरीका यह है कि ग्रुप के एक सदस्य को एक महीना पहले एक पुस्तक सबके सामने प्रस्तुत करने की जिम्मेदारी दी जाती है और शेष सभी सदस्य उस पुस्तक को पढ़कर आते हैं, उस पर चर्चा करते हैं। मुझसे सबसे पहले जिस पुस्तक को प्रस्तुत करने के लिए कहा जाता है, वह है लेनिन की 'राज्य और क्रांति'। पुस्तक की प्रस्तुति के लिए की गई अपनी तैयारी और साथियों द्वारा उस पर की गई बहस से मुझे पता चलता है कि वास्तव में इसे कहते हैं अध्ययन। मुझे यह भी पता चलता है कि एक वास्तविक जनतांत्रिक किस्म का बौद्धिक वातावरण क्या होता है। यहाँ मैं एक युवा अध्येता होते हुए भी बड़े से बड़े विद्वानों के साथ बेधड़क बात और बहस कर सकता हूँ।

दृश्य–15

हिन्दी के प्राध्यापक के रूप में जिन पुस्तकों को पढ़ता-पढ़ाता हूँ, उनका जिक्र करना गैर-जरूरी है। इसी प्रकार अनुवादक और समीक्षक के रूप में पढ़ी गई पुस्तकों का जिक्र भी गैर-जरूरी है, क्योंकि अनुवाद और समीक्षाएँ सबके सामने हैं। लेकिन 'कथन' के सम्पादक के रूप में पढ़ी गई पुस्तकों के बारे में दो शब्द कहना जरूरी है। 'कथन' यों तो एक साहित्यिक पत्रिका है और ऐसी पत्रिका के सम्पादन के लिए पुराने तथा नए साहित्य के निरन्तर सम्पर्क में रहना जरूरी है, लेकिन 'कथन' एक ऐसी वैचारिक पत्रिका भी है, जो प्रत्येक अंक में किसी नए विषय पर विशेष सामग्री प्रस्तुत करती है। यह सामग्री मुख्य रूप से चार स्तम्भों के माध्यम से प्रस्तुत की जाती है– 'संपादकीय', 'आज के सवाल', 'परिचर्चा' और 'जरूरी किताबें'। मेरे संपादकीय प्रायः उसी विषय पर केंद्रित निबंध होते हैं, जिस पर अंक की विशेष सामग्री प्रस्तुत की जाती है। ऐसे सम्पादकीय लिखने के लिए मुझे कितना पढ़ना पड़ता होगा, यह आप इन निबंधों के संकलन 'साहित्य और भूमंडलीय यथार्थ' को पढ़कर जान सकते हैं। 'आज के सवाल' स्तम्भ में अंक के केंद्रीय विषय के विशेषज्ञ विद्वान से बातचीत करके उसका साक्षात्कार प्रकाशित किया जाता है। ऐसी बातचीत सम्बन्धित विद्वानों की पुस्तकें पढ़े बिना नहीं की जा सकती। इसके लिए मुझे कितनी और कैसी-कैसी पुस्तकें पढ़नी पड़ी हैं, इसका कुछ अंदाजा आप मेरी पुस्तक 'बेहतर दुनिया की तलाश में' पढ़कर लगा सकते हैं, जो इन साक्षात्कारों का संकलन है। 'परिचर्चा' स्तम्भ के लिए एक प्रश्नावली बनाकर लोगों के पास भेजी जाती है या उसके आधार पर लोगों के वक्तव्य रिकॉर्ड किए जाते हैं। ऐसी प्रश्नावली विषय का गम्भीर अध्ययन किए बिना नहीं बनाई जा सकती। 'जरूरी किताबें' स्तम्भ में हर बार अंक के केंद्रीय विषय से संबंधित अंग्रेजी की किसी महत्त्वपूर्ण पुस्तक का परिचय दिया जाता है। इसके लिए उस पुस्तक को तो पढ़ना ही पड़ता है, उसे एक 'जरूरी किताब' के रूप में चुनने के लिए कई और पुस्तकों को भी पढ़ना पड़ता है....

वैसे आप समझ ही गए होंगे, फिर भी यदि यह रहस्य है, तो इसका उद्घाटन आज मैं कर ही दूँ कि 'जरूरी किताबें' स्तम्भ का लेखक उत्पल कुमार मैं ही हूँ।

107, साक्षरा अपार्टमेंट्स, ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063

jsr T;ksa aru jgx;kgS

xhrk 'ksdZ

युवा कथाकार भगवानदास मोरवाल ने अपने पहले उपन्यास 'काला पहाड़' से ही पाठकों और आलोचकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था, जिसमें उन्होंने मेवात के बाशिंदे मेवों के जीवन का बहुआयामी चित्रण किया था। 'बाबल तेरा देस में' के बाद 'रेत' उनका तीसरा नया उपन्यास है। इसमें उन्होंने हरियाणा और राजस्थान के सीमावर्ती क्षेत्रों में बसने वाली कंजर जनजाति के जीवन-संघर्ष और द्वंद्व को उभारने की कोशिश की है। कंजर जनजाति के इतिहास, रीति-रिवाजों और उसके सामाजिक जीवन का प्रामाणिक चित्रण करने के लिए लेखक ने बड़े परिश्रमपूर्वक शोध किया है जो निश्चित रूप से प्रशंसनीय है।

लेखक के अनुसार औपनिवेशिक प्रशासन के एक अंग्रेज अफसर किंग जेम्स स्टीफन ने 1871 में पहली बार भारत की इन जनजातियों को अपराधी और 'जरायम पेशा' घोषित करते हुए कानून बनाया था। इसमें 1886 से लेकर 1924 के बीच अंग्रेज कानूनविदों जेन्किंस, सर अलेक्जेंडर कारड्यू, सर जेम्स क्रेशर ने कई संशोधन करके इसे बहुत कठोर बना दिया था। लेखक के अनुसार, ''1840 में इन जनजातियों पर भीषण अपराध करने का पहली बार शक किया गया। इसीलिए मेरठ से मद्रास तक राहजनी में लगे अनगिनत कंजरों को गिरफ्तार किया गया। 1870 में जिला हमीरपुर के मजिस्ट्रेट ने इनके खिलाफ सख्त कार्रवाई की सिफारिश की और 1874 तक आते-आते उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर, मथुरा तथा आगरा जिलों में कंजरों ने जो उपद्रव और उत्पात मचाया, उससे अंग्रेजों को उनमें विद्रोह की बू आने लगी।'' 'क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट, 1924' के तहत ऐसी 47 जरायम-पेशा जातियाँ नोटिफाई की गई थीं। कहना न होगा कि आजादी के बाद भी तथाकथित सभ्य समाज के धनी-मानी और बाहुबली लोगों द्वारा तथा सर्वोपरि पुलिस द्वारा इन जनजातियों का नृशंस दमन जारी रहा। उनके चरित्र पर लगा धब्बा अभी भी नहीं मिटा और न ही उनके प्रति समाज का दृष्टिकोण बदला।

आमतौर पर यह माना जाता रहा है, जैसा कि लेखक ने अपने उपन्यास में दिखाया भी है कि कंजर जनजाति का मुख्य पेशा अवैध शराब बनाना और अपने समाज की कुंवारी लड़कियों द्वारा वेश्यावृत्ति कराना ही रहा है। इसके साथ ही यथाअवसर चोरी और नकब जनी के अपराध भी उनके पेशे में शुमार किए जाते रहे हैं। जैसे मेवों की संस्कृति और रीतिरिवाज हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों के मिलेजुले रीतिरिवाज रहे हैं, वैसे ही कंजर जनजाति में भी हिन्दू और मुसलमान दोनों मिलते हैं। हालांकि मान्य और प्रचलित धार्मिक परम्पराओं और देवी-देवताओं से कंजरों का बहुत वास्ता नहीं रहा। उनके अपने अलग जनजातीय देवी-देवता हैं। इनमें सबसे प्रमुख उनके कुलदेवता माना गुरु, माँ नलिन्या, मारी, प्रभा और भुइयाँ आदि हैं। लेखक ने यह दिलचस्प किस्सा भी इसमें शामिल किया है कि किस तरह एक फरार अपराधी भूरा की कब्र भूरापीर की मजार में बदल जाती है और जब धर्म धंधे से जुड़ जाता है तो वहाँ सालाना उर्स भी शुरू हो जाते हैं। यह लोकविश्वास की धार्मिक रूढ़ियाँ हैं, जिसके प्रति लेखक सचेत है।

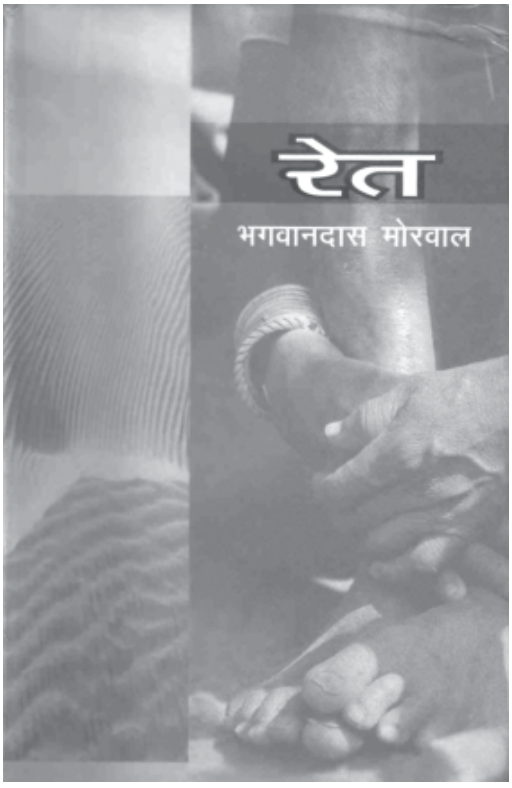

माना गुरु और माँ नलिन्या की संतान इस कंजर जनजाति की त्रासद जीवनगाथा उकेरने के लिए लेखक ने गाजूकी नामक कंजरों की बस्ती, विशेषरूप से उसके कमला सदन के एक परिवार को आधार बनाया है। जैसा कि पहले भी उल्लेख किया गया है कि इस जनजाति की अविवाहित लड़कियाँ वेश्यावृत्ति का पेशा करती हैं और पुरुष प्राय: कोई भी काम-

धंधा नहीं करते। इस जनजाति में मातृसत्तात्मक व्यवस्था के अवशेष मिलते हैं, जिसके सत्ता शीर्ष पर कमाई करने वाली यही अविवाहित लड़कियाँ होती हैं जिन्हें खिलावड़ी कहा जाता है, लेकिन विपर्यय यह है कि इसी समाज की लड़कियाँ शादी के बाद 'भाभी' कहलाती हैं, जिनके लिए यह पेशा तो वर्जित होता है किन्तु उनकी स्थिति परिवार में दयनीय, खटने वाले नौकरों जैसी होती है। इस कंजर जनजाति के इस अंतर्विरोध को लेखक ने केंद्र में रखा है, उसे ओझल नहीं किया है।

कमला सदन के घेरे में माँ-बेटियों की तीन पीढ़ियाँ हैं। कमला बुआ, उनकी बेटियाँ सुशीला और माया तथा इन दोनों बहनों की बेटियाँ रुक्मिणी, वंदना और पूनम। यही कमला सदन का इतिहास और भूगोल ही नहीं, आर्थिक आधार भी है। दूसरी तरफ संतो भाभी और अनीता भाभी हैं, जो जानवरों की तरह इनकी और इनके मेहमानों की सेवा-टहल में खटती रहती हैं। संतो भाभी की बेटी पिंकी से जब पूछा जाता है कि वह क्या बनना चाहती है, तो वह भाभी के बजाय बुआ बनने का फैसला सुनाती है, यह इस समाज का चौंकाने वाला अंतर्विरोध है। यहाँ गौर करने की बात यह भी है कि यदि कमला सदन में एक साथ, इस कंजर जनजाति की सात्विक परम्परा एक तरफ है तो दूसरी तरफ उस परम्परा को नष्ट करने का प्रचलन भी, यहाँ तक कि भाभियों का विद्रोह भी।

इसी पृष्ठभूमि में इस उपन्यास में रक्मिणी की कहानी कही गई है जो यह मानती है कि ''अब जाकर पता चला है कि ताकत चाहे दौलत की हो या रूप और देह की, वह कितनी बड़ी होती है। अगर इनमें से एक भी आपके पास है तो समझो आपसे बड़ा ताकतवर कोई नहीं है.... और अगर सारी हैं तो कहना ही क्या.... मेरे पास आज तीनों हैं।'' रुक्मिणी यह बात एम.एल.ए. का चुनाव जीतने के बाद राज्य की अनुसूचित जाति एवं जनजाति कल्याण उपमंत्री बनने के बाद अपने सखा घनश्याम 'कृष्ण'

(वैद्यजी) से कहती है। अपनी देह के बल पर यह सब हासिल करने का गुरुमंत्र उसे भगवा पार्टी की राजनीतिक कार्यकर्ता और समाजसेविका सावित्री मल्होत्रा देती है, जो उससे कहती है कि अपनी देह की तू खुदमुख्तार है और इसी से अपना भाग्य पलट सकती है।

लेकिन रुक्मिणी की समस्या यह है कि वह सावित्री बाईजी से पूछती है कि क्या बिना इस देह के भाग्य नहीं पलटा जा सकता, क्योंकि ''इसी देह से तो मैं पीछा छुड़ाना चाहती हूँ।'' रुक्मिणी अपना भाग्य पलटती है और इस देह से भी पीछा छुड़ाने में सफल हो जाती है, लेकिन बड़ी नि:संग निर्ममता से अपनी भांजी पिंकी की बलि चढ़ाकर ही। वेश्यावृत्ति करनेवाली एक खिलावड़ी से लेकर राज्य की उपमंत्री बनने तक की रुक्मिणी की पूरी कहानी बेशक कहीं-कहीं फिल्मी अंदाज में लिखी गई है, लेकिन दिलचस्प है। इस समूची कथा में राजनीतिक पार्टियों (चाहे वे कोई भी हों), उनके जनसंगठनों के कामकाज, चुनावी उम्मीदवारों की चयन प्रक्रिया और कुल मिलाकर कहें तो राजनीति जैसे पेचीदा और जटिल परिदृश्य का लेखक ने जिस तरह वर्णन किया है, आज की राजनीति का पर्दाफाश ही होता है।

रुक्मिणी जैसी अत्यंत सम्भावनापूर्ण पात्र के चरित्र का विकास लेखक वैसे तेजस्वी और क्रांतिकारी चरित्र में बिल्कुल भी नहीं ढाल पाया है जैसा कि उसका संवेदनात्मक उद्देश्य रहा होगा। देह को आधार बनाकर भाग्य बदलने के फैसले के साथ ही रुक्मिणी की आँखों में अपने बेटे गुड्डू का चेहरा तैर जाता है। यही रुक्मिणी के चरित्र का और साथ ही इस उपन्यास का भी सबसे जबर्दस्त और निर्णायक मोड़ है। उपन्यास का सबसे सम्भावनापूर्ण और निर्णायक चरित्र यह गुड्डू ही है जो उपन्यास में अपनी बहुत हल्की-सी उपस्थिति दिखाकर भी अमिट प्रभाव छोड़ता है। इस नाजुक मोड़ से ही रुक्मिणी के सारे चिंतन और कर्म के केंद्र में गुड्डू ही मौजूद रहता है, भले ही उसके अवचेतन में और अत्यंत अपरोक्ष रूप से। हालांकि क्षेत्र-विशेष की बोली और खासकर कंजर जनजाति के लोगों में प्रयुक्त होने वाले खास शब्दों और मुहावरों के इस्तेमाल से लेखक ने उपन्यास को प्रामाणिक बनाने का अपने भरसक प्रयास किया है। जिस तरह उपन्यास में जगह-जगह घटिया जासूसी उपन्यासों की तरह 'रहस्य' और रोमांच पैदा करने की कोशिश की गई है, फिर चाहे वह वर्णित स्थितियाँ हों या घटनाक्रम अथवा पात्रों के बीच के संवाद, प्रभावी नहीं लगते। जो बात बड़े कलात्मक ढंग से दो-ढाई सौ पृष्ठों में कही जा सकती थी, उसे रबड़ की तरह खींचकर सवा तीन सौ पृष्ठों में जबर्दस्ती फैलाया गया है। फिर भी औपन्यासिक प्रतिभा और कला के साथ कंजरों के जीवन-संघर्ष के बारे में किए गए शोध के लिए लेखक का परिश्रम प्रशंसनीय है। कहना न होगा कि यह उपन्यास बेहद पठनीय है।

रेत/ भगवानदास मोरवाल/ राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली/ मूल्य : 350 रु.

बी-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स, वसुंधरा इंक्लेव, दिल्ली-110096

Hkwyuk

deys'k flag

जब कभी हम यथार्थ के धरातल की बात करते हैं तो कभी-कभार सोची-समझी या प्रचलित धारणाओं का शिकार हो जाते हैं। यथार्थ का धरातल इतना सपाट तथा संकीर्ण प्राय: नहीं होता जितना बहुत बार हमारी मुख्य-धारा के साहित्य में दिखता है या समझ लिया जाता है। यथार्थ की ऊबड़-खाबड़ और विविधवर्णी दुनिया में विशिष्ट सोच या विचारधारा की ऊँचाइयाँ ही नहीं होतीं, उसमें कहीं-कहीं मन की असीम गहराइयाँ भी होती हैं जो बड़ी सरलता से जब-तब अपनी उपस्थिति दर्ज कराती रहती हैं।

युवा कहानीकार चंदन पाण्डेय का पहला कहानी संग्रह 'भूलना' की कहानियाँ ऐसी न भूलनेवाली कहानियाँ हैं, जो नि:सर्ग और निस्पृह होती दुनिया में संवेदन-शून्य होते जाने की करुण-गाथा का बयान करती हैं। विडम्बनाओं से भरे वर्तमान समय के सच को न टाली जा सकनेवाली अवसादपूर्ण क्रूरता का बड़ी सक्षमता से चंदन पाण्डेय ने अपनी कहानियों में वर्णन किया है। त्रासदपूर्ण घटनाओं की खोज का वृतांत इस संग्रह की कहानियों के पात्रों के चेहरों पर साफ-साफ देखा जा सकता है।

छह लम्बी कहानियों के इस कहानी संग्रह की पहली कहानी 'रेखाचित्र में धोखे की भूमिका' लोक-शैली में लिखी गई कहानी 'वागर्थ' में छपते ही चर्चित हुई थी। पारम्परिक दादी-नानी की कहानियों की तरह इसकी शुरुआत-एक थे नारायण (एक था राजा....) होती है। कहानी के नैरेशन के लिए लेखक ने फफूंद लगी तस्वीर का सहारा लिया है। उसी तस्वीर के माध्यम से लेखक स्वयं का तथा नारायण का परिचय पाठक से करवाता है। गाँव के रेलवे स्टेशन का एक प्लेटफार्म कथा का रंगमंच बनता है। कथा में वर्णित समस्त विस्तारों का चित्रण प्लेटफार्म के माध्यम से सम्पन्न होता है। कथा दो बर्बर-सूत्रों के बीच फैली है। एक बर्बर सूत्र है-मध्यकालीन मानसिकता, जिसमें एक प्रेमी का समाज के ठेकेदारों द्वारा कत्ल कर दिया जाता है। दूसरा बर्बर सूत्र आज के भारत की एक भयावह तस्वीर दिखाता है। रोजी-रोटी के लिए विस्थापित लोगों को एक साजिश के तहत मुम्बई जैसे शहरों से जबरन पलायन करवाना, इस कहानी का दूसरा बर्बर सूत्र है। दोनों बर्बर सूत्रों को रेलवे के प्लेटफार्म के माध्यम से सम्बन्धित किया गया है। एक नौ वर्ष के बालक के माध्यम से कहानीकार ने एक संवेदनशील भयावह यथार्थ की सच्ची एवं निष्पक्ष तस्वीर को दिखाया है। इस कहानी का नकारात्मक पक्ष यह है कि कहानी में कहीं-कहीं वर्णनात्मक शैली का प्रयोग ज्यादा है। शायद कहानीकार पाठक के लिए कुछ नहीं छोड़ना चाहता था।

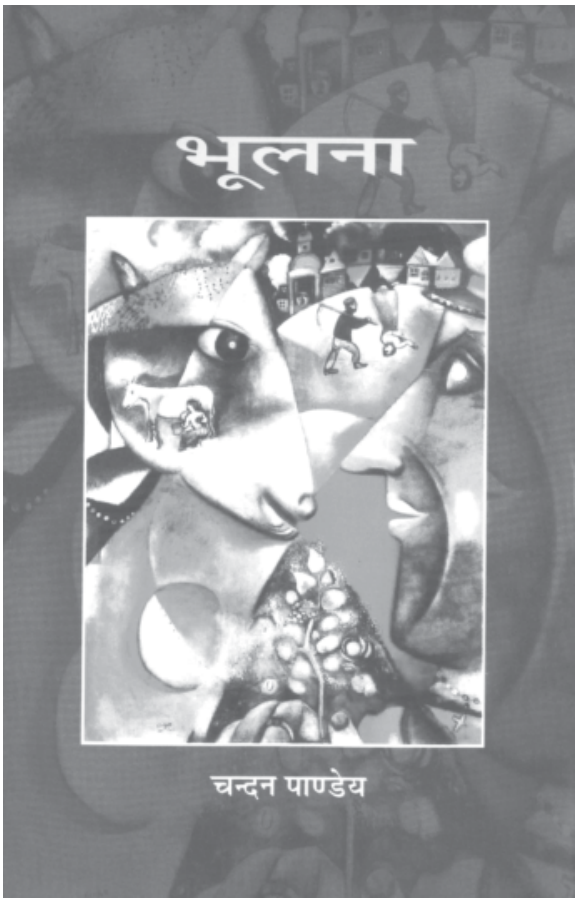

संग्रह की दूसरी कहानी 'भूलना' इस संग्रह की महत्वपूर्ण शीर्ष कहानी है। इस कहानी की शुरुआत एक कौतूहल से होती है। यह एक मनोवैज्ञानिक टाइप की कहानी है। एक अति निम्नमध्यवर्ग परिवार, जो आर्थिक मंदी की मार झेल रहा है, की मनोदशा का बखूबी चित्रण इस कहानी में दिखाया गया है। इस कहानी में कई आर्थिक सूत्र आपस में गूंथे हुए हैं। घर का अभिभावक एक प्राइवेट गार्ड है। किस प्रकार आतंकवादी घटनाओं को सत्ता में बैठे लोग तथा उनसे सम्बन्धित दलाल इस्तेमाल करते हैं, उसका क्रूर चित्रण इस कहानी में है। इस प्रक्रिया में घर के सदस्य उसकी उपस्थिति को भुला देते हैं। परिवार के

सदस्यों के एलिनेशन इफेक्ट के कारण लड़का बर्बर-व्यवस्था द्वारा आतंकवादी बना ही नहीं दिया जाता है बल्कि परिवार द्वारा गुलशन को भुला भी दिया जाता है। गुलशन से गुलफाम होने की यह एक त्रासद-पूर्ण कहानी है। यह कहानी हमारे त्रासद समय की विडम्बना का एक भयावह रूपक है।

भारत विभाजन की त्रासदी पर आज तक सैकड़ों कहानियाँ लिखी जा चुकी हैं। लेकिन इस संग्रह की तीसरी कहानी 'नकार' एक विशेष-भावबोध को लेकर लिखी गई कहानी है। विभाजन के पचास साल बाद लोगों के दिलों में अपनों से मिलने की चाहत पर यह कहानी लिखी गई है। माँ की खोज में भटकती एक पचास वर्षीया स्त्री का करुण आख्यान यह कहानी बन जाती है। इस कहानी की वह स्वयं कथा वाचक है। यह कहानी भावुक होने के साथ-साथ, पाकिस्तान की एक वास्तविक तस्वीर पेश करती है। मुहाजिरों के दिलों में पाक-सरकार के खौफ को बयान करती यह कहानी कथा-वाचिका के भय-रोध से समाप्त होती है। इस संग्रह की सबसे छोटी यह कहानी कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से सबसे गठी कहानी है।

संग्रह की चौथी कहानी 'परिंदगी है कि नाकामयाब है' लोक-शैली की स्टाइल में लिखी गई विलक्षण कहानी है जो अमानवीयता को अभिव्यक्त करने वाली करुण यथार्थ की कहानी है। एक पक्षी की विशेष आवाज 'कक्का हो-कक्का हो' के रहस्य को खोलते हुए इस कहानी का विकास होता है। जमीन-जायदाद को लेकर मनुष्य किस हद तक जा सकता है, उसी की विसंगत-विद्रूप तस्वीर यह कहानी प्रस्तुत करती है।

संग्रह की अन्य कहानियों में 'सुनो' छत्तीस पेजों में फैली एक लम्बी कहानी है, जो भारत की एक ज्वलंत समस्या पर लिखी गई है। यह कहानी यह बताती है कि सिस्टम में भ्रष्टता के कारकों को इतनी ईमानदारी से आत्म-सात किया गया है कि पूरी व्यवस्था स्वचालित प्रतीत होती है और इससे बचने का कोई रास्ता नजर नहीं आता है। इसके साथ प्रेम की त्रासदी को इस कहानी में दिखाने की कोशिश की गई है। यह कहानी एक नए शिल्प में लिखी गई है। इसमें दो कथा-वाचक पात्र हैं जो पहले प्रेमी-प्रेमिका तथा बाद में पति-पत्नी के रोल में आ जाते हैं। ये दोनों पात्र अपनी कहानी स्वयं आत्म-कथ्य शैली में कहते हैं। अगर इस कहानी के दोनों पात्रों को 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक पर लागू करें तो नेहा मल्लिका के रूप में और मानस कालिदास के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं। जिस प्रकार मल्लिका भावना का वरण करती है उसी तरह नेहा भी मानस के लिए अपने चरित्र को गिरा लेती है, कहती है-''क्योंकि वह एक शख्स है, मानस, जिससे मैं प्यार करती हूँ।'' (पृष्ठ 136)

संग्रह की अन्तिम कहानी 'सिटी पब्लिक स्कूल, वाराणसी' एक किशोर मानसिकता की कहानी है। कहानी पब्लिक सिटी स्कूलों में पढ़ रहे किशोर विद्यार्थियों की मानसिकता को न केवल नैरेशन से, बल्कि भाषा की संवेदना से उठाती है। बेशक इस कहानी का वातावरण रोमानी ज्यादा है, यथार्थ कम, फिर भी यह कहानी समकालीन दायरे का अतिक्रमण करती है।

चंदन पाण्डेय का यह पहला कहानी संग्रह उनकी प्रतिभा का नया गवाक्ष खोलता है। कथ्य एवं शिल्प के स्तर पर ही नहीं, बल्कि देश-काल में व्याप्त यांत्रिक मानवीयता का भी बखूबी चित्रण करता है। अवमूल्यित जीवन-मूल्यों का यथार्थ-चित्रण इस संग्रह की पहचान है। युवा पाण्डेय जिस तरीके से अत्यंत दुरूह तथा नाजुक विषयों को इस संग्रह में उठाते हैं, वह प्रशंसनीय है। यही कारण है कि उनकी रचनात्मक परिपक्वता आलोचकों को चकित करती है।

चंदन की सधी भाषा कहानी के यथार्थ को न तो वीभत्स होने देती है, न ही नारा बनने देती है। संग्रह की लगभग सभी कहानियाँ जिन्दगी तथा समाज के बहुत करीब हैं। सन्दर्भ चाहे जो हो, उनकी कहानियों में कहानीपन सुरक्षित रहता है।

चंदन पाण्डेय का यह संग्रह अपने समय तथा समाज को अभिव्यक्त करता दिखाई पड़ता है। भाषा-शिल्प एवं संवेदना के स्तर पर हिन्दी कहानी को नया रूप-रंग देने का प्रयास यह संग्रह है। इस संग्रह की कहानियाँ समकालीन प्रश्नों से टकराती हुई और कई नए प्रश्न उठाती दिखाई पड़ती हैं।

भूलना/ चंदन पांडेय/ भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली/ मूल्य 120/-

6ए, कटरा रोड, इलाहाबाद-211002

fdrkc dk cM+k

vyd izdk'k

'फूलों का बाड़ा' कथा-संग्रह में युवा कहानीकार मो. आरिफ की दस कहानियाँ संकलित हैं। इनमें से अधिकांश कहानियाँ प्रकाशित होते ही चर्चित हो गई थीं। कहानीकार की सफलता की प्राथमिक शर्त होती है–बाँध सकने वाली भाषा, धारदार शिल्प-विधान और व्यापक जीवनानुभव से समृद्ध कथ्य, जिसका प्रभाव पाठक पर पड़ने के बाद देर तक बना रहे। मो. आरिफ इस कसौटी पर खरे उतरे हैं।

मो. आरिफ के भीतर यथार्थ की अभिव्यक्ति की विविध सम्भावनाएँ हैं, जिसकी स्वीकृति 'फूलों का बाड़ा' संग्रह की कहानियों में क्रमशः मिलती है। हर कहानी से कहानीकार का अनुभव झाँक रहा है, पूरी तन्मयता के साथ। ये कहानियाँ पाठक को पूरी छूट देती हैं कि वह अपनी तरह से उनका पाठ बनाए और उसके माध्यम से अपने पक्ष में तर्क गढ़ सके। बहुत दिनों के बाद ऐसा संग्रह प्रकाश में आया है, जिसकी अधिकांश कहानियाँ उत्कृष्ट हैं। प्रस्तुत संग्रह के फ्लैप पर बहुत सटीक टिप्पणी है कि जिस सहजता के साथ कहानियों के पात्र परस्पर संवाद एवं अंतःक्रिया करते हैं और आमफहम बातचीत में ही अपनी विडम्बनाओं, आंतरिक रहस्यों का संकेत करते हैं, वह हिन्दी के 'गम्भीर फैशन' के इस माहौल में दुर्लभ है।

मो. आरिफ की कहानियों का सामाजिक संदर्भ अत्यंत विस्तृत और समृद्ध है। वे समाज के हर तबके से अपने प्रतिनिधि पात्र चुनते हैं, और यह वैविध्य उनके रचना-संसार को बहुआयामी बना देता है। संग्रह की पहली कहानी 'लू' अत्यंत मर्मस्पर्शी है और इसका रचनात्मक प्रयोजन यह संकेत देता है कि जातीयता की 'लू' कैसे एक निर्दोष को अपने लपेटे में ले लेती है। 'लू' कहानी का रिक्शाचालक जोगी पासवान उच्च वर्ग की उस मानसिकता और दम्भ का भोक्ता है जो कभी यह बर्दाश्त नहीं कर पाता कि नीची जाति का पुरुष उसकी उच्च जाति की औरत से संबंध कायम करे। इंस्पेक्टर रतन सिंह चौहान को एक शातिर अपराधी की तलाश में इस्लामपुर जाना था। रास्ते में जोगी पासवान ने 'लू' के थपेड़ों से उसकी जान बचाई, अपने घर में शरण दी, हर तरह से इंस्पेक्टर की सेवा की। यह पता लगने पर कि जोगी पासवान की पत्नी ऊँची जाति की है, रतन सिंह चौहान विचलित होता है, और अपराधी की जगह जोगी पासवान को निर्दयतापूर्वक मार-पीट कर मुम्बई ले जाता है। यही भ्रष्ट पुलिसिया तंत्र और व्यवस्था, संग्रह की दूसरी कहानी 'तार' में भी है, जो न जाने कितने नौजवानों को विद्रोही बना रही है। प्रत्यावलोकन शैली की कहानी 'तार' की शुरुआत अत्यंत रोचक ढंग से होती है। सुगंधित इत्र का व्यापार करनेवाले रहमान भाई के परिवार में, पीढ़ियों के इतिहास में भी कोई जातिगत विद्वेष नहीं था। 1857 के गदर में उसके पर-परदादा ने राजनीति से कोसों दूर रहते हुए एक हिन्दू युवती से प्रेम-विवाह किया था। ये सीधे-साधे लोग पुलिस-प्रशासन के भय से जो सच नहीं है, उसे मानने के लिए विवश किए जाते हैं। यह कहानी अल्पसंख्यक समाज की यातना का बयान है। वे दमघोंटू परिस्थितियाँ जो एक सीधे-सच्चे मुसलमान को विक्षिप्त होने की हद तक ले जाती हैं। लेखक के साहस की दाद देनी होगी कि वह

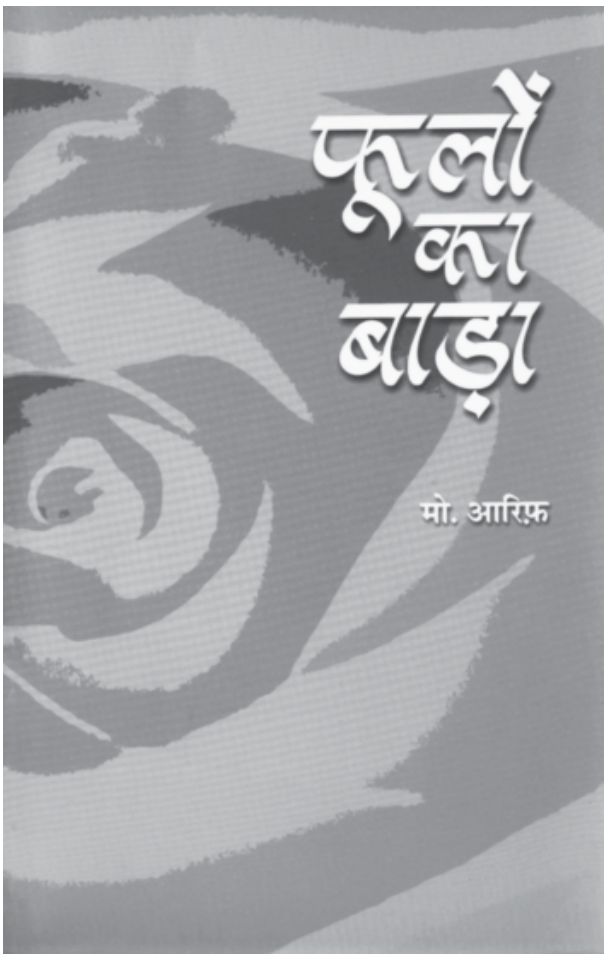

एक ऐसे यथार्थ से हमारा परिचय कराता है, जिसमें आज का अल्पसंख्यक समुदाय जी रहा है। यह यथार्थ 'साइकिल की सवारी' और 'लू' में भी है। शुरुआत में साधारण लगने वाली यह कहानी अपने ट्रीटमेंट में असाधारण है। रहमान भाई के लिए मौलिक अधिकारों, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता या प्रजातंत्री संविधान का क्या अर्थ हो सकता है। कैसी विडम्बना है कि रहमान भाई जैसा व्यक्ति प्रशासन द्वारा आतंकवादी मान लिया जाता है। अगर इस कहानी को सिर्फ मुस्लिम समस्या की पठनीय कहानी माना जाए तो यह इसका सतही मूल्यांकन होगा। रहमान भाई की गिरफ्तारी मन को क्षुब्ध कर देती है। लेखक सपने में रहमान भाई का एनकाउंटर होते देखता है। आखिर आजकल सपनों के सच होने में वक्त ही कितना लगता है।

'फुर्सत' कहानी दाम्पत्य सम्बन्धों में उपजते रिक्तताबोध के दबाव की कहानी है। कथा-नायक मानिक बहुत दिनों के बाद पत्नी अनीता के साथ कुछ रूमानी पल बिताना चाहता है, अपनी भावनाओं को शेयर करना चाहता है। उससे मान-मनुहार करना चाहता है, लेकिन पत्नी एक लम्बे अरसे से उसके उपेक्षित व्यवहार के कारण अपनी घरेलू दुनिया में इस कदर रम गई है कि उसे पति मानिक का यह व्यवहार अनापेक्षित लगता है और वह उसके 'फुर्सत' के उन पलों में शरीक नहीं हो पाती। यह कहानी उन जोड़ों खासतौर पर मर्दों के लिए आँख खोलने के समान है जो इतने प्रोफेशनल हो गए हैं कि दाम्पत्य जीवन की मिठास खोते जा रहे हैं। लेखक के शब्दों में ''किसी बड़ी ही खूबसूरत और कीमती चीज से महरूम भी होने लगे-बूँद-बूँद।'' (पृ. 31)

'मौसम' कहानी एक ऐसे पिता की कहानी है, जो रोजगार के क्षेत्र में बहिष्कृत है। उनके बच्चे अनेक स्तर पर भावात्मक और बौद्धिक टकराहटों से जूझते हैं। नौकरी के लिए जब पिता और पुत्र एक ही कतार में खड़े होते हैं तो लेखक पुत्र के माध्यम से प्रश्न उठाता है-''किसने खड़ा किया था उन्हें? बोलिए। मेरा खून गुनगुना होने लगा।

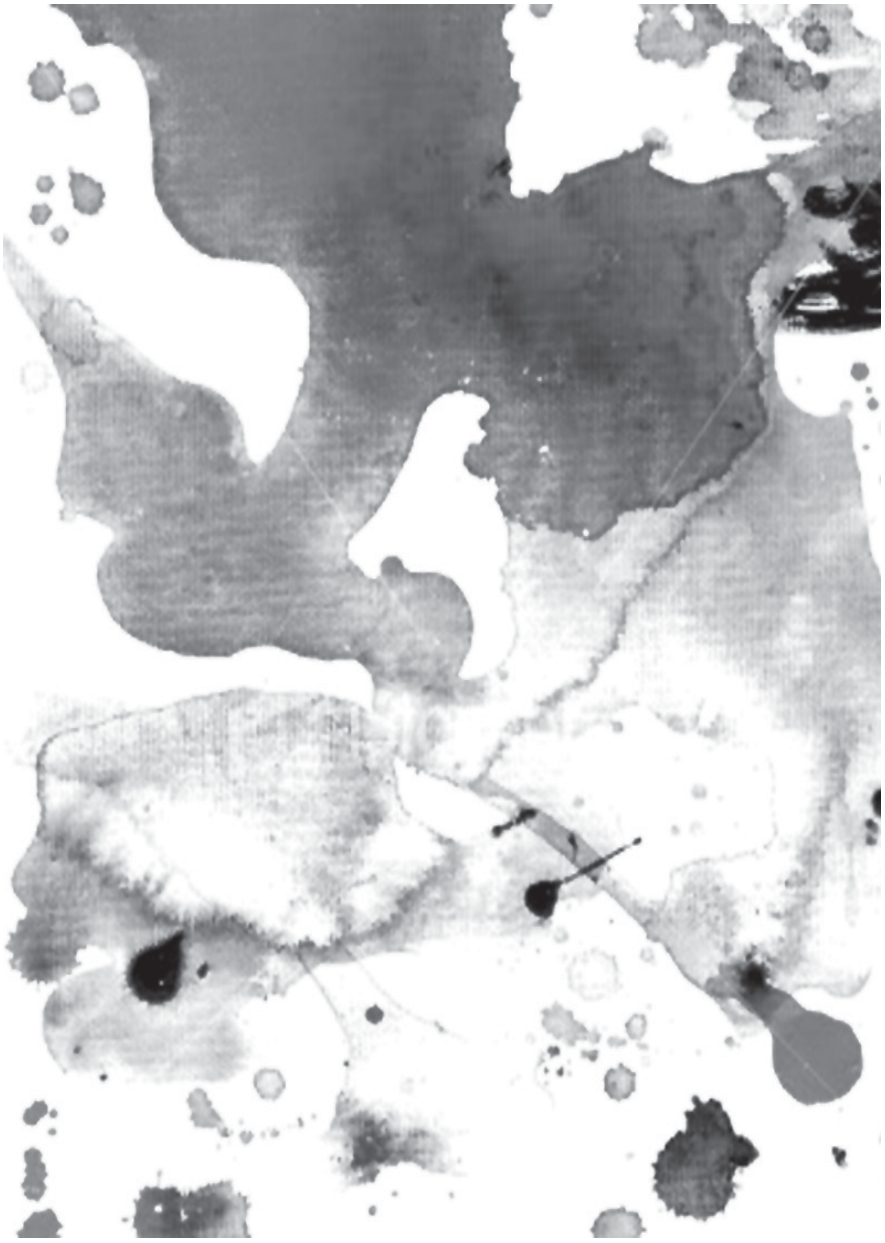

फिर गरम हो गया और फिर उबलने लगा। किसने खड़ा किया उन्हें? किसने खड़ा किया था हम दोनों को एक ही कतार में साथ-साथ?'' (पृ. 49) ये अब्बू वही अब्बू थे, जो हमेशा अपने बच्चों को समझौतापरस्त होने से रोकते रहे और आर्थिक विषमताओं से जूझते-जूझते एक दिन अपनी उच्च डिग्रियों को दरकिनार कर प्राइमरी स्कूल की मास्टरी के लिए लाइन में लग जाते हैं।

इस संग्रह की अन्य कहानियाँ 'आग' दहेज के लिए जलाई गई माँ की कहानी है। यह कहानी इस कठोर सच को उद्घाटित करती है कि अक्सर सताई गई औरतें उस प्रक्रिया को दुहराने लगती हैं। प्रतिरोध की जगह वही काम खुद करती है-''मैंने दो लाख कहा है.... माँगा नहीं है। न दबाव दिया है। बस कहा है कि दो लाख रुपये अपने बेटी-दामाद के नाम जमा करवा दें।'' (पृ. 64) रातभर कथा-नायक का मन भटकता रहा। वह सोचता है कि माँ द्वारा प्रायोजित अग्नि-परीक्षा का बहिष्कार करेगा। 'सत्यमेव जयते' इस संग्रह की एक सशक्त कहानी है। संवेदना के स्तर पर ही नहीं, शिल्प के स्तर पर भी। कहानी पढ़ने के बाद मन भींग जाता है। यह सोचने पर मजबूर हो जाता है कि जफर मुहम्मद के लिए झूठ

बोलना कितना कठिन रहा होगा। वे कैसे झूठी गवाही दे पाए होंगे। उनका पोता जो हर पहलू का चश्मदीद गवाह था, सोचता है–''बाबा ने जब एक सच को झुठलाया था तो कैसे झुठलाया होगा। घर के लोगों का दबाव तो था ही, गुस्से में भी थे वे। तलाकशुदा बेटी का चेहरा, फिर उसकी लाश घूम गई आँखों के सामने। उनके भाई उन्हें रावण नजर आए होंगे। कुछ चीजें और बदली होंगी बाबा के आसपास। उनके अगल-बगल चारों तरफ बैठे पंच पत्थर के बुतों में तब्दील हो गए होंगे। कई दुकानों वाला जफर मार्केट चमक गया होगा आँखों के सामने। बाबा इन्हीं झमेलों में अटक-भटक गए होंगे। और सत्य इन्हीं झमेलों में पड़कर हार गया होगा। उसी दृश्य-अदृश्य के खेल में पड़कर बाबा झूठ बोले होंगे। नीम का वह पेड़ उन्हें अपना लगा होगा।'' (पृ. 74) परिस्थितियों और घर का दबाव जफर मियाँ पर इतना घातक सिद्ध होता है कि झूठी गवाही देने के बाद उनका इंतकाल हो जाता है। इस तरह 'सत्यमेव जयते' शीर्षक एक विद्रूप की रचना करता है। इस संग्रह की एक और अच्छी कहानी है–'पापा का चेहरा' यह ऐसे माँ-पिता की कहानी है जो अपनी दमित इच्छाओं को बच्चों के माध्यम से पूरा करना चाहते हैं। यह इच्छा उनकी बच्ची के लिए अत्यंत घातक सिद्ध होती है–''वह गुड़िया ढूँढ रही है, कहाँ है मेरी गुड़िया? मम्मी बोलती क्यों नहीं? मिसेज वर्मा बोलिए, मेरी गुड़िया कहाँ है, वह चिल्लाना चाहती है, वह गुड़िया-गुड़िया करके रोना चाहती है। वह बोलना चाहती है कि वह सौ में से सौ नहीं ला पाएगी।'' (पृ. 78) ''कल रात तो वह पारूल की तरह पंखे से झूल जाना चाहती थी लेकिन पापा का चेहरा सामने आ गया।'' (पृ. 81) आज के बच्चे किस तरह परीक्षा के तनाव में जी रहे हैं, उसकी सच्ची तस्वीर यह कहानी हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। संग्रह की ही कहानी 'साइकिल की सवारी' एक दलित युवती की एक ऐसी कहानी है जो अपनी ही जाति के लोगों द्वारा 'गैंग रेप' का शिकार होने पर भी सहज है। वह पुरुषों की यौन क्षमता, जो कि उनकी प्रभुता का प्रतीक माना जाता है, को ध्वंस कर देती है। वह अंत में पति जोधन को सबक सिखाती है, जो उसकी दुर्गति का कारण है।

इस कथा-संग्रह की अन्तिम लम्बी कहानी है 'फूलों का बाड़ा'। यह औपन्यासिक अन्विति लिए हुए है। स्त्री-विमर्श के इस युग में भी वह सब कुछ हो रहा है जो इस कहानी में दर्शाया गया है। नारी का पुत्र-मोह शाश्वत है चाहे वह आधुनिकता के लाख दुशाले ओढ़ ले। पुत्र-मोह एक ऐसी दबी आग है जो गाहे-बगाहे धधक ही उठती है। बलात्कार की उपज होने के बावजूद पेट में पल रहा भ्रूण यदि पुल्लिंग होता तो महारानी सेतिया उसे इस दुनिया में आने देती। उसे कन्या-भ्रूण के समान 'फूलों का बाड़ा' में दफन होने के लिए विवश नहीं होना पड़ता। इस कहानी का रचना-शिल्प बहुस्तरीय है। एक ही कहानी में कई तरह की प्रश्नाकुलता है। बलात्कार के बाद उसके चिह्नों को मिटाना महारानी सेतिया के लिए कितना त्रासद रहा होगा। न वह कहीं रिपोर्ट दर्ज करा पाती है और न किसी से शिकायत कर पाती है। दो बच्चियों की माँ वह पहले से है इसलिए अपने कन्या-भ्रूण से उन्हें कोई हमदर्दी नहीं। और यह 'फूलों का बाड़ा' कोई फूलों का बाड़ा नहीं अपितु एक कसाई-बाड़ा है, जहाँ सैकड़ों कन्या-भ्रूण दफन हैं। यह कहानी हमारी संवेदना को और गहन तथा विस्तृत करती है। आरिफ की कहानियों में एक सम्मोहन है, एक मौलिकता है जो पाठक को बाँधे रखती है। आरिफ की सामर्थ्य और सीमा का परीक्षण करने के लिए सिर्फ एक कहानी 'सत्यमेव जयते' ही पर्याप्त है।

फूलों का बाड़ा/ मो. आरिफ/ भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीटयूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/ मूल्य : 120 रु.

12, स्पंदन, डी.आर.डी.ओ. आवासीय परिसर, अम्बेडकर विहार, चौफटका, इलाहाबाद-1

महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय की पत्रिकाएँ

पुस्तक-वार्ता
संपादक : भारत भारद्वाज
मूल्य : 20/- प्रति अंक

हिंदी
संपादक : ममता कालिया
मूल्य : 125/- प्रति अंक

पत्रिकाएँ मँगवाने के लिए सम्पर्क करें :

प्रकाशन विभाग,
क्षेत्रीय विस्तार केंद्र,
महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
ई-47/7, ओखला औद्योगिक क्षेत्र,
फेज-II, नई दिल्ली-110020
फोन : 011-26387365
तार : हिन्दीविश्व
E-mail : Pustakvarta@indiatimes.com

dfodk [kqys esa vkokl

jtsanz dqekj

कमलेश सिर्फ कवि नहीं, एक राजनीति-कर्मी भी रहे हैं। इसलिए स्वाभाविक है कि उनकी राजनीतिक सक्रियता के बारे में जानने वाले पाठक उनकी कविताओं में उनके राजनीति-बोध को तलाशने की फिक्र ज्यादा करें। और तब शायद उनके लिए यह बात तसल्लीबख्श हो कि कमलेश का 'आवास' इतना 'खुले' में नहीं है कि राजनीतिक वातावरण की घुटन का उन्हें अहसास ही न हो। 'हालत वतन की' उन्हें भुलाए नहीं भूलती और 'क्रांति की प्रतीक्षा' की यह विडम्बना भी कि 'हमारी जरूरत है कि हम पर हम-जैसी/ सरकारों का शासन है' लेकिन फिर भी उनका संग्रह 'खुले में आवास' ही है, किन्हीं थकी-मांदी राजनीतिक उम्मीदों का विश्राम-स्थल नहीं।

'खुले में आवास' का कवि खुद को भी किन्हीं उम्मीदों की खामख्याली से बरजता है। उसे अपनी सीमाबद्धता का पता है जिसे वह छिपाता नहीं- 'शब्दों के सीधेपन को गोलमटोलपन में/ क्या-क्या छिपा हुआ रहता है/ जो मुखरित नहीं हो पाता' और उसे अपने लिखे हुए की नियति भी पता है जिसे वह अंतत: उजागर कर देने में ही अपनी मुक्ति समझता है-'इबारत पढ़ना हो गया कठिन/ कुछ ही बरस बाद/ वह रद्दी कागद है।'

'सीमाबद्ध' होने और 'रद्दी कागद' होने-दोनों का तीव्र अहसास जिस कवि को हो, वह कुछ भी 'फालतू' क्यों लिखना चाहेगा? कमलेश का कवि-कर्म इसीलिए आज के बहुत ज्यादा लिखने के चलन का अपवाद है। अपनी कविताओं के प्रकाशन के मामले में उनका धैर्य भी विरल है। 'जरत्कारू' (1980) के बाद एक लम्बा अंतराल और अब 2008 में यह 'खुले में आवास'। और इस अंतराल में भी अंतराल-कविताएँ 1968 से 1985 के बीच की, और संकलित रूप में इनका प्रकाशन इतने अरसे बाद। सम्भव है, कुछ पाठकों को इसके पीछे, प्रकाशन को लेकर कवि का निरुत्साह नजर आए। 'खुले में आवास' की कविताओं को पढ़ते हुए हमें तो इस तथ्य के मूल में कवि का यह आत्मविश्वास ही झलकता नजर आता है कि उसकी रचना तारीखवार हो, तो भी तारीख का भार ढोने से इनकार करके आगे पहुँचती है। अपने विश्वास को कवि ने खुद बड़ी विनम्रता से इन शब्दों में रखा है-'कविताओं में रचनाकालीन परिस्थितियों की प्रतिध्वनि सुनना अस्वाभाविक नहीं होगा। यहाँ समकालिकता कोई कसौटी नहीं है, न ही समकालिकता को प्रच्छन्न करने के कौशल अपनाए गए हैं।'

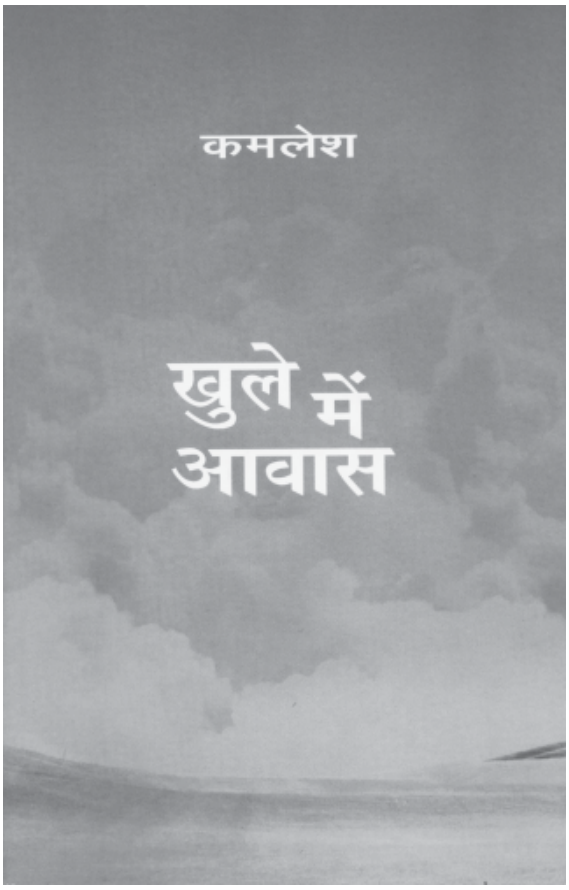

समकालिकता सिर्फ उसी से तय नहीं होती जो हमारे समय में उपस्थित है। जो अनुपस्थित है, चला गया है, वह क्या छोड़कर गया है-इसकी खोज से भी हमारी समकालिकता उजागर होती है। कवि के यहाँ, निरे भाषावैज्ञानिक से अलग, 'शब्द' की इससे अधिक सार्थक परिभाषा और क्या हो सकती है -

'यह रिक्ति शब्द हैं/ सुनते हैं हम
शब्द उनकी छूटन है/ जो नहीं रहे।'

और तब कवि-कर्म एक खोज में निकलने की प्रक्रिया में परिणत होता है -

'इन्हीं अंतरालों में तिरोहित है संसार
हम निकले हैं जिसकी खोज में।'

कमलेश के पास एक ऐसा कवि-हृदय है-या कहूँ, कवि-मन ('मन' कहने से, उसमें अनुभूतिप्रवणता का ही नहीं, 'मनन' की क्षमता का भी बोध हो

जाता है) जिसमें अनुभव केवल बाह्य की प्रतिक्रिया के रूप में ही नहीं उतरते बल्कि कवि की संवेदना के अंग होकर व्यक्त होते हैं। मसलन 'जानती हैं औरतें' शीर्षक कविता में स्त्री-जीवन का त्रासद यथार्थ–

एक दिन सारा जाना-पहचाना
बर्फ-सा थिर होगा/ याद में
....
आएँगे, मंडराते प्रेत सब/ माँगेंगे/
अस्थि, रक्त, मांस/ सब दान में।

'हालत वतन की' खंड में संकलित कविताओं में सिर्फ यह कामना ही नहीं है कि 'अच्छा हो आदमी बिखेर दे पोटली अपने भरम की', बल्कि आजादी के बाद की भोगवादी राजनीति से मुठभेड़ के स्वर भी हैं–मसलन यह कि 'राजनैतिक कैदियों के लिए/ तीन-चार दिन की जेल भी स्वर्ग है।' और यह भी कि '....जहाँ पानी नहीं है/ वहाँ चुप्पी है, आँखों में निरीह कीचड़ है/ जहाँ विधायक नहीं है भारत सेवक समाज का/ अध्यक्ष है, जहाँ कोई नहीं, 'केयर' का सभ्यवेष प्रतिनिधि है।' और पूंजीवादी विकास की 'नैतिकता' के कायलों के लिए यह 'गृध्र उवाच'–

'हमें सौंप दी है इंसान ने अपनी लाशें
तुमने चुग लिए दो-चार दाने उसके डाले
और हो गए उसकी नैतिकता के कायल'

'क्रांति की प्रतीक्षा' खंड में कहीं यह आत्मालोचन है–'तुम्हारे एक कायर दिल है कभी-कभी आगे बढ़ लड़ने में/ रस लेता हुआ...' तो कहीं यह भरोसा भी–'समय इस कोलाहल में धीरे-धीरे/ पक्षधर होता जा रहा है।'

'खुले में आवास' के कवि की राजनीतिक दृष्टि क्या है, इससे भी आगे बढ़कर और गहरे उतरकर, हमारी जिज्ञासा यह होनी चाहिए कि कवि की 'काव्यनैतिक दृष्टि' क्या है या 'काव्यनैतिक' जिज्ञासाएँ क्या हैं। बंद होना क्या है?, अपने से कहाँ मिला जाए, कहाँ है हमारा घर? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो दूसरों से पूछने के नहीं होते,

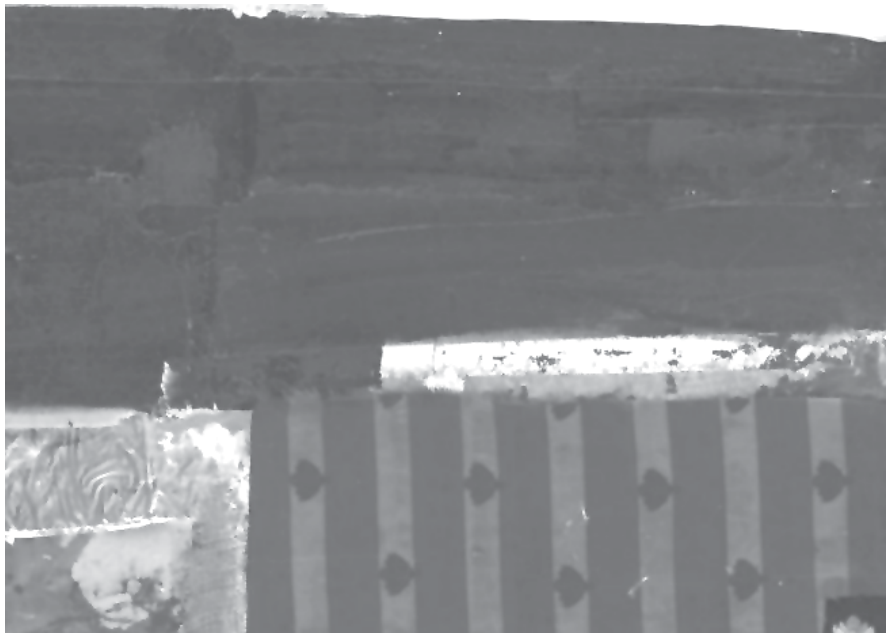

खुद अपने से पूछने के होते हैं :

'जो भी बंद होगा, संकरा होगा, खुलेगा कभी
वरना वह नस-नस से फूटकर बहेगा।'
(सम्भव है)

'संभव कैसे हो/ स्वयं से साक्षात्'
(साक्षात्कार)

'कहाँ से अवतरित होंगे शब्द इन शिलाओं में' (घाव)

ऐसे अनेक प्रश्न हैं जो कवि की जिज्ञासाओं को बुनते हैं तो कवि के 'भय' को भी–'मैं नहीं, मैं नहीं/ मैं तो खुद डरता हूँ ज्यादा उघड़ने से।' और वैसे भी कवि को 'उघड़ने' से ज्यादा चिंता है 'देखने' की।

'सीखा हमने देखना नि:सर्ग को,
देखना कौशल है....'
'कैसे दिखे हमें जिसे सीखा नहीं देखना।'
(देखना कौशल है)

कमलेश की कुछ कविताओं (जैसे 'चंद्रमा, चंद्रमा', 'वृथा है', 'यह दु:ख', 'रुदन', 'साक्षात्कार' आदि) की गीतधर्मिता भी भावुकता में परिणत होने के बजाय एक प्रकार के 'रहस्य-संधान' में प्रवृत्त होती दिखती है–

'ऐसा दु:ख, इतना गहरा
और न जाने क्यों
प्यार या निराशा नहीं
फिर भी यह मन रोता' (रुदन)

प्रसिद्ध चित्रकार स्वामीनाथन को याद करते हुए कमलेश ने 'आविर्भाव' शीर्षक जो कविता अपने इस संग्रह में दी है, वह मानो किसी भी रचना के आविर्भाव की सार्थकता को परिभाषित करती है। कमलेश के कवि-मन के भीतर भी मानो एक चित्रकार का आवास है, तभी तो कविता के कैनवस पर किसी चित्रकार की तूलिका के 'स्ट्रोक्स' की तरह बिम्बों की रेखाएँ खिंचती चली जाती हैं–'द्रवित आकाश में लीक डालता पक्षी' या 'धुएँ की लकीर-सा दु:ख यह....' या 'आसमान सलेटी रंग का होता जा रहा है'।

'दास मन' शीर्षक कविता की शुरुआती पंक्तियाँ (....दु:ख यह/ फैल रहा है आकाश में/ कहाँ से निकलता है यह धुआँ) पढ़ीं तो मीर की आवाज कहीं बहुत नजदीक से आती प्रतीत हुई–

देख, दिल से कि जां से उठता है
ये' धुआँ-सा कहाँ से उठता है

खुले में आवास/ कमलेश/ राजकमल प्रकाशन, 1बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : 150 रुपये

12बी/1, बंद रोड, एलेनगंज, इलाहाबाद-2

rksNksjkaokysi=kksadhmfu;k

eSustj

पत्र एक ओर बेहद निजी और अंतरंग क्षणों के साक्षी होते हैं, वहीं वे अपने समय के इतिहास का हिस्सा भी होते हैं। कभी-कभी एक ही लेखक के पत्र ये दोनों काम करते हैं जैसे 'मित्र-संवाद' में रामविलास शर्मा और कवि केदारनाथ अग्रवाल के बीच का पत्राचार या फिर अभी हाल में प्रकाशित मधुरेश को लिखित 'अश्क के पत्र'। लेकिन यह भी सम्भव है कि पत्र निजी, गोपन और अंतरंग दुनिया की धड़कनों और थरथराहट को पकड़ें या फिर बाहर की उस दुनिया को जो अब कमोबेश इतिहास का हिस्सा बन चुकी है। यहाँ समीक्ष्य दो संग्रह काफी कुछ दो भिन्न छोरों पर खड़ी दुनिया में हमें ले जाते हैं।

धर्मवीर भारती के पुष्पा भारती को लिखित पत्र अपनी प्रकृति में वैसे ही प्रेम-पत्र हैं जैसे कभी कवि कीट्स ने फैनी बर्नी या काफ्का ने मिलेना को लिखे थे–प्यार के ताप और थरथराहट से भरपूर, लेकिन बीमारी की हताशा और असुरक्षा के आतंक से मुक्त। जैसा कि पुष्पा भारती ने सूचित किया है, उस दौर में भारती द्वारा उन्हें लिखित पत्रों का एक बहुत बड़ा संग्रह अभी भी उनके पास सुरक्षित है। अपने निजी क्षणों के साक्षी रहे इन पत्रों के प्रकाशन का तर्क तलाशती पुष्पा भारती, अपनी भूमिका में, मैथिलीशरण गुप्त की 'विष्णुप्रिया' की एक पंक्ति उद्धृत करती हैं, 'मेरे प्रभु सबके हों, मैं उन्हीं की रहूँ....' इसी तर्क से वस्तुत: भारती और उनके ये पत्र पुष्पा के होकर भी अब सबके हैं–साहित्य की एक धरोहर के रूप में। धर्मवीर भारती के ये पत्र एक संक्षिप्त कालावधि में लिखित हैं–18 जुलाई से 14 सितम्बर, सन् 1959 के बीच। पत्रों को लिखे जाने का यह जुनून ही इनकी शक्ति है और शायद सीमा भी।

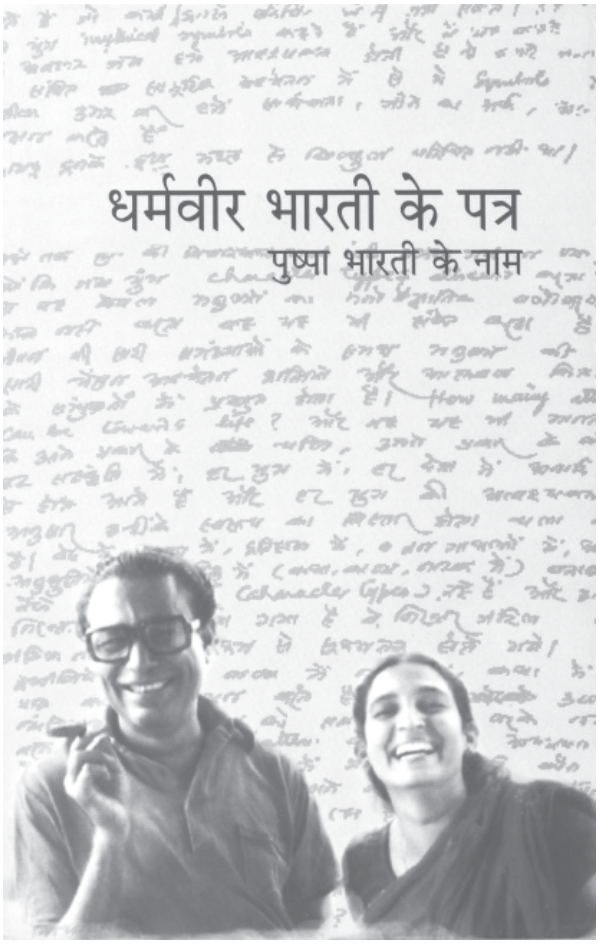

भारती यहाँ अनेक सम्बोधनों से अपनी प्रिया को पुकारते हैं–सपन मेरे, राजे, राघन, मेरे अभिमान, मेरी केलिसखी, मेरी दिग्वधू, मेरी कालवधू आदि विभिन्न रूपों में। 'राघन', 'मेरी केलिसखी' आदि सम्बोधन स्पष्टता से इस ओर संकेत करते हैं कि उनके काव्य 'कनुप्रिया' को माखनलाल चतुर्वेदी ने, तब 'ज्ञानोदय' में प्रकाशित अपनी समीक्षा में 'एक नास्तिक वैष्णव की राधा' के रूप में ठीक ही पहचाना था। 'कनुप्रिया' का वास्तविक मॉडल यह पुष्पलता शर्मा ही थीं जो बाद में पुष्पा भारती बनीं। इस तरह अपने उत्कट प्रेमानुभव को ही भारती ने 'कनुप्रिया' में राधा-कृष्ण के प्रेमानुभव में ढालकर, निज को व्यापक बनाकर, प्रेम-काव्य को एक नया आयाम दिया था। हैरानी की बात यह है कि इन पत्रों के आरम्भ में कोई सम्बोधन नहीं है, पत्र के बीच-बीच में अनेक प्रिय सम्बोधन अवश्य हैं। क्या पुष्पा भारती ने इन सम्बोधनों को हटा दिया। ये प्रेमपत्र पहले भी कुछ पत्रिकाओं में छपे हैं।

भारती के इन पत्रों में आत्मीय और अंतरंग बतरस की शैली ही इनका मुख्य आकर्षण है। आज पाठकों को यह भावुकतापूर्ण भी लग सकता है। इसमें प्रकृति बराबर की आत्मीय और सहचर है। झमाझम बरसती बारिश में भींगता लॉन, सामने का पीपल, आसपास के पेड़-पौधे या फिर खिड़कियों पर पौंड़ी बेलें। बारिश में जितना यह सब भींगता है, उतना ही भारती भी भींगते हैं। बारिश जितनी बाहर है, उतनी ही अंदर भी है।

भारती की इन निजी और गोपन दुनिया में जब-तब दो चीजें बाहर से हस्तक्षेप करती हैं। एक ओर 'परिमल' के अनेक मित्रों की गतिविधियाँ एवं कार्यकलाप हैं- रघुवंश, रामस्वरूप चतुर्वेदी, साही, विपिन, लक्ष्मीकांत वर्मा और एक बार सामने से आते लोहिया तक। इसी पृष्ठभूमि में 'निकष', 'ज्ञानोदय' और 'धर्मयुग' की अनुगूंजें भी सुनी जा सकती हैं। दूसरी ओर पुष्पा भारती के शोधकार्य के प्रसंग में बाकायदा ली जानेवाली भारती की धारावाहिक क्लास। भारती की तरह स्वयं पुष्पा भी सिद्ध साहित्य में शोध कर रही थीं। शिक्षायतन कॉलेज, कलकत्ता आकर उन्हें लगा कि आधुनिक साहित्य पर कुछ करना ही ठीक होगा। तब उन्होंने आधुनिक प्रबंध-काव्य में चरित नायकों को लेकर कुछ करना चाहा। भारती के इन लम्बे पत्रों का बड़ा हिस्सा युंग की चरित्र सम्बन्धी सैद्धांतिक चर्चा और अवधारणाओं से अटा है। इससे एक ओर जहाँ एक अध्येता और अध्यापक के रूप में धर्मवीर भारती की स्पष्ट और पारदर्शी अभिव्यक्ति का पता चलता है, वहीं यह भी कि अपनी प्रिया के निर्माण में भारती ने कितना श्रम किया था। किसी तात्कालिक और क्षणिक ज्वार से अधिक यह प्रसंग सचमुच सपनों और जीवन में बराबर की हिस्सेदारी का था। इन पत्रों में जहाँ-तहाँ एक ऐसे टेलीपैथिक संवाद का उल्लेख है, जिसे भारती अपना निजी 'तारघर' कहते हैं, जिसमें दूर बैठकर भी एक-दूसरे की पीड़ा और कष्ट का बोध प्रस्रवित होता रहता है।

अपने इस प्रेम को धर्मवीर भारती ने प्रायः ही बहुत कोमल और उदात्त बनाकर प्रस्तुत किया है। उनका लिखा एक अंश है, 'क्या तुम जानती हो कि वस्तुतः वे हम दोनों थे, जिन्होंने गुहामानव की चरम हिंस्र प्रवृत्तियों का अतिक्रमण कर सृष्टि के आदिम सूर्योदय में पहली बार यह जाना था कि एक-दूसरे का तन पूजा का साधन है, भक्षण या पाशविक तृप्ति का नहीं। क्या तुम्हें मालूम है कि जन्म-जन्मांतर में यह हमारा प्यार है जो वंशी की भांति वट के नीचे तुम्हारा नाम बजाता रहा

है....' (पृ. 24)

इन पत्रों में जहाँ-तहाँ भारती की ब्याहता पत्नी कांता का जिक्र भी है। 7 अगस्त सन् 59 को लिखित पत्र से पता चलता है कि कांता भी साथ है। खंडवा जाने पर उसे साथ ले जाने की बात भी मन में आई थी, लेकिन अंततः फिर कार्यक्रम अकेले ही बना। इसी पत्र में उल्लेख है, 'कांता यहीं रहेगी....' दो दिन बाद इस यात्रा में भी, पुष्पा द्वारा खंडवा के पते पर पत्र डालने की सूचना है।

पुष्पा को लिखित एक अन्य पत्र में भारती लिखते हैं, 'हाँ, पिताजी को कांता क्या जवाब दे, इसके लिए तुमने कुछ नहीं बताया है। तुरंत एक छोटा-सा ड्रॉफ्ट-सा बनाकर भेज दो। जो तुम कहोगी वही लिख देंगे....' (पृ. 66) एक-दो चिट्ठियाँ भारती द्वारा कांता को ही बोलकर लिखवाने का उल्लेख भी है। ऐसा तब होता है जब भारती अपने पैर के दर्द के कारण बैठ पाने में असमर्थ थे। बाद के पत्र में भारती ही लिखते हैं, 'रात को 12 बजे तक मैं वह खत कांता से लिखवाता रहा, जिसे कल दोपहर पूरा कर शाम को कालका पर छोड़ा....' (पृ. 74) इसी पत्र में वे यह सूचना भी देते हैं, 'दिन में कांता ने मेरे दर्द से घबराकर तुझे एक चिट्ठी लिखी थी कि छौनेए को बुला लो.... जरूर बुला लो....' (वही) 'राधा' और 'कनु' के बीच कांता की उपस्थिति के ये कुछ संकेत हैं जो यहाँ-वहाँ इन पत्रों में बिखरे पड़े हैं। पुष्पा के साथ यहाँ भारती के किसी 'अनुबंध' का जिक्र भी है, जिसकी प्रकृति स्पष्ट नहीं है। कांता ने बाद में एक परित्यक्ता पत्नी के रूप में अपने अनुभवों को आधार बनाकर 'रेत की मछली' नामक उपन्यास भी लिखा। भारती ने प्रेम की जिस उदात्त-भूमि और देह-पूजा का उल्लेख अपने पत्र में किया है, कांता का अनुभव उससे बहुत भिन्न है। 'रेत की मछली' का वह प्रसंग, वर्षों बाद आज भी दिमाग में अटका है जिसमें कलकत्ता से भारती के लौटने पर जब वह अटैची खाली करती है तो कपड़ों के बीच कंडोम का पैकेट देख वह हतप्रभ रह जाती है। इस सदमे से उबरने में उसे कुछ समय लगता है। ....लेकिन, शायद नैतिक-अनैतिक को आधार बनाकर किसी प्रेमानुभव की चर्चा नहीं की जा सकती। अच्छा हो यदि अभी भी भारती के इन पत्रों को सम्पूर्णता में प्रकाशन की कोई योजना बनाई जाए।

भारती के पत्र यदि नितांत निजी, आत्मीय और गोपन की श्रेणी में आते हैं तो 'आरम्भ की दुनिया' के संपादक विनोद भारद्वाज का दावा है, ''ये पत्र हिन्दी की साहित्यिक दुनिया के दस्तावेज हैं, निजी पत्र नहीं हैं। जो निजी थे उन्हें मैंने शामिल नहीं किया है।'' (भूमिका, पृ. 12) हिन्दी लघु-पत्रिका के इतिहास में 'आरम्भ' के 6 अंक, विशेषरूप से काव्य-केंद्रित पत्रिका के तौर पर, सचमुच ऐतिहासिक महत्व के हैं। 'आरम्भ' के सम्पादक उन्नीस वर्षीय विनोद भारद्वाज थे जो तब लखनऊ विश्वविद्यालय में पढ़ रहे थे। विभिन्न रूपों में उनके अन्य सहयोगी थे कवि नरेश सक्सेना और चित्रकार जयकृष्ण। 'आरम्भ' की दुनिया में कुल जमा 48 लेखकों के 136 पत्र हैं। उस दौर के अनेक नवोदित और पहचान बनाते कवि-धूमिल, मंगलेश डबराल, लीलाधर जगूड़ी, विष्णु खरे, नीलाभ, अशोक वाजपेयी आदि-यहाँ अपने हाथ-पैर निकालते देखे जा सकते हैं। दो वर्षों में पत्रिका के 6 अंक निकले जुलाई 1967 से अप्रैल-जुलाई 1969 की दो वर्ष की अवधि के बीच। बच्चन और भारतभूषण अग्रवाल जैसे कुछेक वरिष्ठ कवियों के पत्र पत्रिका के वार्षिक चंदे के रूप में उसकी आर्थिक

सहायता करने के प्रसंग में हैं। वहीं अनेक युवा कवियों ने पत्रिका की प्रशंसा करते हुए उसकी ऐतिहासिक भूमिका को रेखांकित किया है।

'आरम्भ' एक ओर यदि अ-कविता आंदोलन के विरुद्ध खड़े होकर कविता का एक नया युगानुकूल मुहावरा गढ़ रही थी वहीं अपनी उपस्थिति से वह 'धर्मयुग' और 'सारिका' पत्रिकाओं के लिए परेशानी का सबब भी बन रही थी। धर्मवीर भारती और कमलेश्वर ने अपनी इन पत्रिकाओं के मंचों से उसका मुखर विरोध किया। एक पत्रिका के रूप में 'आरम्भ' के महत्व पर अनेक युवा कवियों की टिप्पणियाँ यहाँ देखी जा सकती हैं। श्रीकांत वर्मा 'आरम्भ' की 'विनम्रता और विवेक' की प्रशंसा करते हैं तो महेंद्र भल्ला उसे 'प्रतीक' और 'कृति' की परम्परा में रखकर देखते हैं। दूधनाथ सिंह, अशोक वाजपेयी, नर्मदा प्रसाद खरे, काशीनाथ सिंह आदि अनेक लेखकों ने पत्रिका की संपादकीय अंतर्दृष्टि और साहित्य-विवेक की सराहना करते हुए उसे कविता और कला का संगम बताया। अनेक लोगों ने अपने समय की साहित्यिक जरूरतों के प्रसंग में उसे एक आवश्यक और जिम्मेदार पत्र बताया।

संख्या की दृष्टि से संकलन में सबसे अधिक पत्र यदि धूमिल के हैं तो स्पेस की दृष्टि से लीलाधर जगूड़ी के। ये सब एकदम युवा और अंकुराते हुए कवि हैं-अपनी विपन्नता, संघर्ष और परिवेश के बहुविध दबावों को झेलते हुए। धूमिल और सुदामा पांडेय के दो पाटों के बीच पिसते धूमिल तब सहारनपुर में थे। अपने पत्रों में वे प्राय: ही विनोद को लखनऊ में तबादले की कोशिश के लिए उकसाते और दुखी होते हैं। यही वह दौर था जब उनकी 'मोचीराम' और 'पटकथा' जैसी कविताएँ छपी थीं। नौकरी में घर से दूर फँसे अपनी स्थिति की उपमा वे दरवाजे पर खूंटे से बंधे उस बैल से देते हैं जो अपने पगहे को दांतों से खोलना सीख गया था। फिर दुखी होकर उसके आजाद होने की इस कोशिश को नाकामयाब करने

के लिए उसके पगहे की गांठ और फँदे पर गोबर थोपना शुरू कर दिया गया था। धूमिल लिखते हैं, 'मेरी नौकरी क्या ठीक ऐसी ही नहीं है? आजादी के खिलाफ एक मजबूत फंदा और उस पर गोबर की थोप। फर्क इतना है कि बैल उसे सूंघकर छोड़ देता था और बँधा रह जाता था और मैं बँधा हुआ हूँ और उसे खा रहा हूँ। मुझे अपनी इस हरकत से नफरत है।....' (पृ. 34) कविता की तरह इन चिट्ठियों में भी तुकों के प्रति धूमिल का आग्रह स्पष्ट है।

लीलाधर जगूड़ी तब अपने गृहनगर उत्तरकाशी में थे। अभावों और विपन्नता से जूझते हुए तब मंगलेश डबराल की तरह ही उनके पास पत्रिका का चंदा भिजवाने को चार रुपये भी नहीं थे। 'आरम्भ' के संपादक विनोद भारद्वाज की उम्र पता चलने पर अपने एक पत्र में वे लिखते हैं, 'तुम्हारी वह संपादकीय उम्रदार तस्वीर मुझे फ्रेम से बाहर करनी पड़ी है और ऐसा करते हुए मुझे खुशी हुई है-निसंदेह।' (पृ. 80) सुमित्रानंदन पंत की संस्कृत-श्लथ भाषा में लिखित 'चिदम्बरा' की कुछ कविताओं का अनुवाद उन्होंने आधुनिक काव्यभाषा में करने पर उसकी व्यापक सराहना पाई थी। लेकिन सुरेंद्र चौधरी ने लिखा, 'पंत की कविता अगर बेमानी है तो जगूड़ी का अनुवाद उससे ज्यादा अर्थहीन है। इस चमत्कार से कुछ आता-जाता नहीं।' (पृ. 143) उनका सुझाव था कि इसकी अपेक्षा जगूड़ी यदि कोई अच्छी कविता लिखते तो अच्छा होता।

अपनी भूमिका में विष्णु खरे 'आरम्भ' से जुड़े कवियों की संख्या पर आश्चर्य प्रकट करते हैं। जिन अड़तालीस कवियों के पत्र यहाँ संकलित हैं उनके अलावा और बाहर भी अनेक कवि थे जो रचनात्मक स्तर पर पत्रिका से जुड़े थे। विष्णु खरे अशोक वाजपेयी की 'पहचान' सीरीज 'आरम्भ' की प्रेरणा और प्रभाव का उल्लेख भी करते हैं। शेक्सपियर के प्रसंग में वे टी.एस. इलियट की इस उक्ति को उद्धृत करते हैं कि उसके मूल्यांकन के संदर्भ में उसके लांड्री बिल का भी महत्व है।

'आरम्भ की दुनिया' साहित्य-इतिहास का एक ऐतिहासिक और दुर्लभ दस्तावेज है। इसके बिना हिन्दी में लघु-पत्रिकाओं का इतिहास यदि अधूरा है तो सातवें दशक की उन साहित्यिक हलचलों का वृतांत भी अधूरा रहेगा जिसमें 'आरम्भ' का उल्लेखनीय हस्तक्षेप था। बहुत निष्पक्षता और ईमानदारी से विनोद भारद्वाज ने उस सामग्री को सुलभ करा दिया है जो पिछले चालीस वर्षों से एक लिफाफे में बंद थी। अप्रकाशित रहकर देर-सबेर उसे वहीं नष्ट हो जाना था।

धर्मवीर भारती के पत्र पुष्पा भारती के नाम/ संकलन : पुष्पा भारती/ भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली/ मूल्य : रु. 100.00

'आरम्भ' की दुनिया/ संकलन एवं संपादक : विनोद भारद्वाज/ प्रवीण प्रकाशन, 4760-61, द्वितीय तल, 23, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : 250 रु.

372, छोटी बमनपुरी, बरेली-243003

dsjyk izFke fganh dfo lokfrfr#ukyeg kjktk jkeoekZ

पुष्पा

यह मानने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि साहित्य, कला, संगीत सहित अन्य कलारूपों का जितना विकास और संवर्द्धन राजशाही व्यवस्था में हुआ, उतना शायद आधुनिक कहे जानेवाले इस समय में हुआ हो। कहने को राजशाही सामंती व्यवस्था में कितनी ही बुराइयाँ रही हों परंतु यह भी सच है कि इस व्यवस्था में कलारूपों को जरूरत से ज्यादा संरक्षण प्राप्त था। यह बात दूसरी है कि दो-ढाई शताब्दी से अधिक समय तक शासन करने वाले अंग्रेज शासक अपने उपनिवेशों की अनमोल धरोहरों यानी कलाकृतियों और प्राचीन दुर्लभ साहित्य को अपने देशों में ले गए, जो आज भी उनके संग्रहालयों तथा अभिलेखागारों की शोभा बढ़ा रहे हैं। मुगल साम्राज्य, देसी रियासतों तथा क्षेत्रीय शासकों के समय से साहित्य व कलाओं के प्रति रहे अनुराग ने भारतीय वाङ्मय के आदान-प्रदान तथा सांस्कृतिक एकता की भावना को आज तक बनाए रखा है। वास्तव में, भारतीय सन्दर्भ में समन्वय साधना और भाषायी उदारता का यह एक अनूठा उदाहरण है। हालाँकि इस सांस्कृतिक साधना और उदारता के पीछे उनकी वैयक्तिक रुचि तथा उनका आध्यात्मिक अनुराग ही अधिक रहा होगा।

दक्षिण भारत के आज केरल कहे जाने वाले राज्य, जिसे स्वतंत्रता के बाद प्रांतीय भाषा के आधार पर (द्रावनकोर, कोचिन तथा मालाबार को मिलाकर) एक नया राज्य बनाया गया, इसकी ऐसी ही एक रियासत थी ट्रावनकोर, जिसकी स्थापना 1729 में की गई थी। इस रियासत के संस्थापक थे ट्रावनकोर के क्षत्रिय शासक मार्ताण्ड वर्मा।

इन्हीं मार्ताण्ड वर्मा के वंशजों में से एक राजा रवि वर्मा को हम प्रसिद्ध चित्रकार के रूप में जानते हैं। जैसे मेवाड़ के राजा अपने आपको 'एकलिंगजी' का दीवान कहते थे, उसी तरह मार्ताण्ड वर्मा के सारे उत्तराधिकारी 'पद्मनाभदास' के नाम से पुकारे जाने लगे। इसी राजवंश में 18वीं सदी के आरंभ यानी 1819 में महाराजा स्वातितिरुनालु, जिसे केरल का प्रथम हिन्दी कवि माना जाता है, का जन्म हुआ। तिरुनाल का अर्थ है-श्रीनक्षत्र। तिरु अर्थात् श्री, और नाल यानी नक्षत्र।

एक रूढ़ि के अनुसार उस समय इस राजवंश में पुरुषों को राज्याधिकार प्राप्त नहीं थे, इसी कारण ट्रावनकोर रियासत के शासन की बागडोर स्वातितिरुनाल राजकुमार रामवर्मा की माता लक्ष्मीबाई संभालती थीं। मगर तिरुनाल के जन्म के दो वर्ष बाद ही वे स्वर्ग सिधार गईं। तदोपरांत लक्ष्मीबाई की छोटी बहन

पार्वतीबाई ने शासन और अबोध राजकुमार दोनों की देखभाल का जिम्मा उठाया। चूँकि स्वातितिरुनाल जन्म से ही राज्य के उत्तराधिकारी थे इसलिए इन्हें 'गर्भश्रीमान' भी कहा जाता था। मगर उत्तराधिकारी होने के बावजूद इनकी मौसी पार्वतीबाई ही रीजेंट के तौर पर रियासत चलाती थीं। चूँकि माँ लक्ष्मीबाई के शासनकाल में ही रेजिडेंट कर्नल मन्ट्रो रियासत के दीवान नियुक्त हो चुके थे, इसलिए रियासत में भारतीय और पश्चिमी संस्कृति दोनों समानान्तर रूप से फलने-फूलने लगी। राजकुमार स्वातितिरुनाल ने शिक्षा-दीक्षा इसी मिली-जुली संस्कृति में प्राप्त की। कर्नल मन्ट्रो की सलाह पर मौसी पार्वतीबाई ने राजकुमार को आधुनिक विषय और प्रशासन संबंधी बारीकियों से अवगत कराने के लिए तंजौरवासी मराठी ब्राह्मण सुब्बाराव को नियुक्त किया। मौलिक विचार रखने वाले सुब्बाराव संगीत और चित्रकला के ज्ञाता थे इसलिए इन्हीं से राजकुमार को अंग्रेजी, गणित, विज्ञान जैसे आधुनिक विषयों के साथ-साथ मराठी का भी व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हुआ।

दरअसल यह वह समय था जब ट्रावनकोर के शासकों के राजनैतिक संबंध मैसूर के शासक, तंजौर के राजा के साथ-साथ दिल्ली के बादशाह से भी थे, इसलिए दैनिक व्यवहार के लिए फारसी और हिन्दुस्तानी का ज्ञान अनिवार्य था। हिन्दुस्तानी से यहाँ तात्पर्य सम्भवत: दक्खिन की हिन्दुस्तानी से रहा होगा। अत: राजकुमार रामवर्मा को फारसी सिखाने के लिए उत्तर भारत से नहीं, अपितु मद्रास के सैयद मोहियुद्दीन और मोहम्मद अली को शिक्षक के रूप में नियुक्त किया गया। इन दोनों की भाषा दक्खिन की हिन्दुस्तानी थी। रियासत के कुछ बजंत्रियों (बाजा बजाने वाले) और घुड़सवार सेना के सिपाहियों में कुछ सिपाही हिन्दुस्तानी अर्थात हिन्दी बोलनेवाले थे। यहाँ तक राजमहल में कुछ दुभाषिए भी नियुक्त थे, जिनकी मदद से राजकुमार हिन्दी सीख पाए। कई कन्नड़भाषी भी राजमहल में सेवक के रूप में कार्यरत थे। वणिक वर्ग के बहुत से तेलुगुभाषी और त्यागराज के कीर्तनों की भाषा तेलुगु होने के कारण राजकुमार को तेलुगु सीखनी पड़ी। इस तरह 1830 में मात्र ग्यारह वर्ष की अल्पायु में राजकुमार रामवर्मा ने स्वातितिरुनाल महाराजा रामवर्मा के नाम से विधिवत शासन की बागडोर संभाली।

पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति से परिचित होने के बावजूद महाराजा स्वातितिरुनाल शुरू से भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के अनुरागी व पोषक रहे। अनेक भारतीय राजाओं की तरह स्वातितिरुनाल महाराजा रामवर्मा भी अमर भारती के अनुपम पंडित निकले। प्रतिदिन पुराण-श्रवण, दान-पुण्य, शास्त्रार्थ-श्रवण के साथ-साथ अन्य साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के लिए थोड़ा समय अवश्य निकालते। ललित कलाओं के पोषण, विशेषकर काव्य तथा संगीत का विधिवत् ज्ञान अर्जित करते। इसीलिए इन्हें 'केरल का भोजराज' तथा इनकी विद्वतसभा को 'आदर्श विद्वत सभा' कहा जाता था। कला साधना के प्रति इनका अनुराग शासन के अंतिम दिनों में बहुत अधिक रहा। मगर उम्र ने इनका लम्बा साथ नहीं दिया और मात्र अड़तीस साल की अल्पायु अर्थात् 1847 में ये स्वर्ग सिधार गए।

महाराजा स्वातितिरुनाल की साहित्य साधना और साहित्यानुराग का अंदाजा इनकी कृतियों से सहज ही लगाया जा सकता है। संस्कृत और मलयालम इर्रायिम्मन तम्पी तथा कोयित्तम्पुरान जैसे कवि-विछान इनके समकालीन थे। इनके अधिकतर गीत (कीर्तनम्) संस्कृत में निबद्ध हैं, जिनमें 'भक्ति मंजरी' का स्थान सर्वोत्तम है। 'नारायणीयम्' की शैली में रचित इनका यह भक्ति-काव्य भक्ति के विविध रूपों का वर्णन करता है। 'कुचेलोपाख्यानम्' तथा 'अजामिलो-पाख्यानम्' जैसे ग्रन्थ स्वातितिरुनाल द्वारा रचित श्लोक एवं गीतों के संकलन हैं। इनके इन दोनों काव्य-ग्रन्थों से उद्धृत इन पद्यांशों को पढ़कर संस्कृत के प्रति इनकी प्रकांडता को समझा जा सकता है-

गंगाधरादृतमसंगाशयांबुरुहभृंगायितं दितिभुवां भंगावहं विधृततुंगाचलं पृथुभुजंगाधिराजशयनं अंगानुषंगि मृदुर्पिगांबरं परमनंगातिसुन्दरतनुं शृंगारमुख्यरसरंगायितं भजतमंगाब्जनाभमनिशम्॥

(कुचेलोपाख्यानम्)

भर्तुर्वक्षसि भासिते सुविमले संवर्तकालोत्कट-प्रोद्यत्कोटिदिकर्तनच्छविघटासर्वंकषे कौस्तुभे दृष्ट्वा वर्ष्म निजं प्रियोरसि गतामन्यां विशंक्य श्रियो रुष्टाया हृदयानुवर्तनरत: श्रीपद्नाभोऽवतु॥

(अजामिलोपाख्यानम्)

महाराजा स्वातितिरुनाल ने मणिप्रवाल शैली की संस्कृतमिश्र मलयालम में गीत-श्लोकात्मक ग्रंथ 'उत्सवप्रबंधम्' रचा। मलयालम में इनके लिखे 'पदम्' तो भावपूर्ण माधुर्य के लिए प्रसिद्ध हैं। मगर इन सबमें महत्वपूर्ण विस्मय और कौतूहल का विषय है लगभग 173 वर्ष पूर्व दक्षिण भारत के इस छोटे से परंतु साक्षरता में प्रतिशत की दृष्टि से सबसे सम्पन्न राज्य केरल में हिन्दी गीतों की रचना। यहाँ यह तो ठीक है कि कलाप्रेमी स्वातितिरुनाल महाराजा रामवर्मा अंग्रेजी, फारसी, मलयालम, कन्नड़, तेलुगु, मराठी सहित लगभग 12 भाषाओं के ज्ञाता होने के कारण बाहरी भाषाओं के गायकों का भी समान भाव से अपने दरबार में सम्मान करते थे परन्तु साथ ही वे अपनी हिन्दुस्तानी संगीत में रुचि के चलते हिन्दुस्तानी कला-मर्मज्ञों

और गायकों को भी बराबर का सम्मान देते थे।

हिन्दुस्तानी में स्वातितिरुनाल द्वारा रचे गए अभी तक लगभग 37 गीत मिलते हैं। इन गीतों में कृष्ण के प्रति अभिव्यक्त भक्तिभावों और प्रेयसी-प्रिय वार्ता प्रमुख हैं। जैसाकि विदित है ऐसे गीतों की परम्परा जयदेव से शुरू होती है, इसीलिए इन्होंने विद्यापति, सूरदास, मीराबाई जैसे कवियों का अनुसरण करते हुए इसी पद्धति पर गीतों की रचना की। जिस तरह विद्यापति, कुम्भनदास, सूरदास, हरिदास, रसखान जैसे कृष्णभक्ति शाखा के कवि पदों के अंत में 'विद्यापति', 'कुम्भनदास', 'हरिदास', 'सूरदास', 'सूर', 'मीरा', 'रसखान' आता है, उसी तरह स्वातितिरुनाल के गीतों के अंत में 'पद्मनाभ' आता है। इनका यह उपनाम ट्रावनकोर रियासत के संस्थापक मार्ताण्ड वर्मा, जिन्होंने अपने राज्य के आसपास के अन्य छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर ट्रावनकोर के रूप में एक बड़ी रियासत स्थापित की थी, अपनी सारी भूमि अपने कुलदेवता श्रीपद्मनाभ को अर्पित कर दी। इस तरह वे 'श्रीपद्मनाभदास' के नाम से शासन करने लगे। स्वातितिरुनाल की तरह दक्षिण के अन्य कवि-गीतकार 'त्यागराज' व 'गुरुगृह' आदि भी मुद्राशब्द अंत में लगाते हैं। 'पद्मनाभ' उपनाम वाले गीतों की स्पष्ट पहचान है कि वह अवश्य ही स्वातितिरुनाल का होगा।

महाराजा स्वातितिरुनाल ने श्रीकृष्ण के विविध रूपों को अपने गीतों में मुरलीधर, ब्रजराज, गिरिधर, कान्हा, गोपी चितचोर के नाम से सम्बोधित किया है। यहाँ स्वातितिरुनाल के गीतों की भाषागत और अन्य विशेषताओं का भी उल्लेख करना जरूरी है। प्रश्न यह है कि इनकी काव्य-रचनाओं का भाषा-रूप क्या है? जिस भाषा में ये गीत लिखे गए हैं इन्हें कौन-सी भाषा का दर्जा दिया जाए-ब्रजभाषा का? खड़ी बोली का? या फिर इसे दक्खिनी कहें? क्योंकि स्वातितिरुनाल हिन्दी के कोई प्रकांड पंडित नहीं थे। मगर इतना तो तय है कि फारसी, खड़ी बोली और दक्खिनी के साथ-साथ इन्होंने ब्रजभाषा के गीतों का अवश्य अध्ययन किया होगा। इसीलिए इनके गीतों में ब्रज, खड़ी बोली और दक्खिनी का सुंदर मिश्रण पाया जाता है। उदाहरण के लिए-

आज उनींदे चले आए ठाढ़ो मोरी अंगना
ब्रजराज नंदकुँवर मायी गिरधारी।
आज उनींदे....। (राग विहाग, (ध्रुपद))

ऊधो सुनिए मेरी संदेस
चले जब से पिया परदेस। (राग पूरबी)

या फिर-

जाओ मत तुम परदेस बालम मेरे जू प्यारे।
अतर लगाऊँ सुगंध लगाऊँ और गुलाब अबीर।
कमल सरोवर से उड़ पंछी कैसे जीवे बिन तीर॥
(राग काफ़ी, (ख्याल))

यहाँ अनेक भाषा-भेदों के शब्दों के बावजूद इनमें दक्खिनी के शब्दों की प्रचुरता अधिक है इसलिए इन्हें 'हिन्दुस्तानी' गीत भी कहा जाता है। इन गीतों की सबसे बड़ी विशेषता है कि प्रत्येक गीत किसी-न-किसी राग जैसे-राग यमन-कल्याणी, राग खम्माच, राग काफी, राग बिहाग, राग भैरवी, राग पूरबी, राग हम्मीर, राग झिंझौटी, राग धनाश्री, राग कान्हड़ा आदि रागों पर आधारित है। सिर्फ इतना ही नहीं इनके गीतों में ख्याल, ध्रुपद, टप्पा आदि गीत-भेद तो दिखाई देते ही हैं, बल्कि विविध तालों का भी प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए कुछ गीतों को देखें-

अबध सुखदाई अब बाजे बधाई।
रतन सिंहासन के पर रघुपति सीता सहित सुहायो।
राम भरत सुमित्रानंदन ठाढ़े चामर चतुर डुलायो॥
(राग काफ़ी)

अब तो बैरागिन भई आली मैं तो
अब तो बैरागिन भई।
सेज सिंगार कछू नहिं भावे
सुख सब भूल गई॥
(राग खम्माच (टप्पा))

आए गिरधर द्वारे मेरे गोरी।
अंजन अधर ललाट महाबर नयन उनींदे चल आए
रयन समय प्रभु छल बल करिके कौन तिया कू बिरमाये
सुख के कारण दुःख के निवारण मधुवन मुरली धुन गाये
'पद्मनाभ' प्रभु जणिपर शायी कोटिपयन तन छवि छाये
आए गिरधर द्वारे....।
(राग भैरवी)

गोरी मत मारो बाण से, नैनों की प्यारी
तन मन मेरो लगो तेरे तन में
घूँघट पट हँस के निकालवे॥

कान्हा ने बजाई बाँसुरी मन मोहे जिन से
जब तब श्याम बजाई बाँसुरिया ले
गई मेरी मन की करारी।
कान्हा ने बजाई बाँसुरी॥
-राग झिंझौटी

इस तरह केरल के इस प्रथम कवि-गीतकार स्वातितिरुनाल महाराजा रामवर्मा को हिन्दी साहित्य के इतिहास में उचित स्थान और सम्मान मिलना चाहिए। इससे न केवल सांस्कृतिक व भाषायी उदारता को बल मिलेगा बल्कि हिन्दी काव्य परम्परा और समृद्ध होगी। 18वीं सदी में जब भक्तिपरक गीतों की रचना हिन्दी में न के बराबर हो रही थी, तब धुर भारत की एक छोटी-सी रियासत के शासक स्वातितिरुनाल महाराजा रामवर्मा ब्रजभाषा और खड़ी बोली में भक्तिकाल की परम्परा को अपने साहित्यानुराग से दक्षिण भारत को प्रकाशमान कर रहे थे। यह बात दूसरी है कि हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति से अपरिचय के कारण उस समय के गायक और संगीतज्ञ इस प्रकाश को दक्षिण भारत में पूरी तरह नहीं फैला पाए। 1963 में पहली बार प्रकाशित स्वातितिरुनाल के इन हिन्दी गीतों से हिन्दी के सुधी पाठकों का परिचय कराना वास्तव में भारतीय समन्वय साधना और परम्परा से परिचित कराना है।

121, चंद्रभागा हॉस्टल, जेएनयू, नई दिल्ली-67

'kks/k&lalÑfr ,oa bfrgkl dk leosr Lo:i

ujsanz feJ

'बुंदेलखंड का स्वाधीनता आंदोलन और पत्र-पत्रिकाएँ' संतोष भदौरिया की बुंदेलखंड पर किए गए शोध कार्य पर तीसरी पुस्तक है। इस पुस्तक में उन्होंने बुंदेलखंड का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक मूल्यांकन प्रस्तुत किया है, आजादी के दौरान सम्पूर्ण बुंदेलखंड देश के साथ कंधे से कंधा लगाकर निरन्तर जिस तरह से संघर्ष करता रहा है, उसके इस पक्ष को इस पुस्तक में सामने लाया गया है। ''उत्तरी सागर (जिला) के दो बुंदेला ठाकुर चंद्रपुर के जवाहर सिंह बुंदेला और नरहुत के मधुकर शाह को सन् 1842 में सागर के दीवानी न्यायालय से डिग्री निकालकर कुर्की करने की धमकी दी गई, दोनों ने आज्ञा की अवहेलना कर अंगरक्षकों पर हमलाकर उनको मार डाला और शासन के विरुद्ध खुला विद्रोह कर दिया। नर्मदा के अन्य असंतुष्ट जमींदारों और गौड़ मुखिया ने उनका साथ दिया।'' यानी इस उदाहरण से पता चलता है कि 1857 से 15 साल पहले भी बुंदेलखंड में जनआक्रोश की यह स्थिति थी। अंग्रेजों के जब्तीबंदी का यहाँ की जनता ने सामना किया है। इसका भी इतिहास इस पुस्तक के पन्ने में दर्ज है। ''महात्मा गांधी के महोबा और बांदा आगमन से सम्पूर्ण बुंदेलखंड में समर्पण और उत्साह का वातावरण बना। गांधी के नमक आंदोलन का व्यापक प्रभाव बुंदेलखंड की जनता पर पड़ा। असहनीय करों और बेगार के खिलाफ खुले विद्रोह शुरू हो गए। ब्रिटिश सरकार द्वारा किसानों को मुर्गा बनाया जाता था, चारपाई में लिटाकर मारा-पीटा जाता था, छाती में पत्थर रखकर वसूली की जाती थी।''

भौगोलिक एवं भाषायी दृष्टि से बुंदेलखंड के सीमांकन का खोजपूर्ण, तथ्यपरक विवरण इस पुस्तक में दिया गया है। ''रूद्रप्रताप बुंदेलखंड के प्रथम शासक माने जाते हैं, उत्तराधिकारी भारती चंद्र ने इस राज्य का विस्तार किया, उसने इसकी सीमाएँ उत्तर में यमुना नदी, दक्षिण-पूर्व में कालिंजर तक तथा महोबा तक विस्तरित कीं। ख्यातनाम, पराक्रमी शासक महाराज छत्रसाल, इसी वंश परम्परा के शासक हुए, जिन्होंने अपनी तलवार की धार से बुंदेलखंड राज्य की सीमाओं को अंतिम रूप प्रदान किया।'' निम्नलिखित पंक्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं ''इत यमुना उत नर्मदा इत चंबल उत टौंस/ छत्रसाल से लड़न की रही न काहू हौंस।''

बुंदेलखंड की ऐतिहासिकता और भौगोलिकता के साथ-साथ इस पुस्तक में देश की आजादी की लड़ाई की शुरुआत के साथ ही हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं के संघर्ष एवं विकास की शुरुआत भी है। दोनों ब्रिटिश शासन के क्रूर दमन के खिलाफ कदम से कदम मिलाकर चले हैं। बुंदेलखंड की धरती की पत्र-पत्रिकाएँ उनकी लोक-संस्कृति एवं लोकभाषा से प्रसूत जनराग को सामने लाती फाग-गारी किसी कल्पनालोक की उपज नहीं। ''हुड़दंग हुल्ल हल्ला कछु अये घाट

में/ अंग्रेज चला झांसी से का करना हाट में/ पैला मुकाम किया मऊ संहार में/ दिन रात दौर-दाखल कुलपहार में।''

भदौरिया इस पुस्तक के एक पूरे अध्याय में इस पूरे सर्वेक्षण को सामने लाते हैं। इसमें 1857 के बाद से लेकर 1947 तक की विभिन्न माध्यमों से आई अभिव्यक्तियों को दर्ज किया गया है। इस पुस्तक में बुंदेलीभाषी जनता की आजादी के संघर्ष को जिस क्रमबद्धता से रखा गया है, उससे बुंदेली जनता की संघर्षों की सही तस्वीर सामने आ जाती है। आजादी के 50 वर्ष से अधिक समय गुजर जाने पर भी बुंदेलीजनता के संघर्षों को अनदेखा किया गया है, उसे यह पुस्तक सामने लाती है। सारे तथ्यों की प्रामाणिकता के लिए जिस तरह से संतोष भदौरिया ने पुस्तकालयों से पत्रों एवं पत्रिकाओं से खंगालकर तथ्यों को जुटाया है, वह सराहनीय है। बुंदेलखंड के उस समय के प्रमुख पत्रों में 'दैनिक प्रकाश', जिसे बुंदेलखंड के प्रथम दैनिक पत्र की मान्यता प्राप्त है, की यह पंक्तियाँ गौरतलब हैं ''दोनों कौमों को सोचना चाहिए कि जिस स्वराज आंदोलन के कारण हिन्दू-मुसलमानों का जलियांबाग में खून बहा, जिसके कारण महात्मा गांधी, अली बंधु आदि कृष्ण मंदिर की हवा खा रहे हैं। क्या उस आंदोलन को अधूरा ही छोड़ दिया जाएगा और इनके तथ्यों की कोई कीमत नहीं होगी।''

बुंदेली जनता के बीच जाकर उस समय के प्रचलित लोकगीतों में आजादी के प्रति जनता की चेतना और उसकी ललक को इसमें उकेरकर रखा गया है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं से चुनिंदा सामग्री जुटाई गई है, जो बुंदेलों की भागीदारी को उभारकर सामने लाती है, इसके लिए लेखक ने बुंदेली लोकगीतों, लोककथाओं, लोकश्रुतियों को भी आधार बनाया है। 'बुंदेलखंड केसरी' उस समय का बहुत ही प्रतिष्ठित पत्र था। इसमें प्रकाशित 'रणभेरी' कविता की पंक्तियाँ देखें ''60 वर्ष के बूढ़े गांधी जेल जा बैठे हैं आज/ कैसे तुम युवक कहलाते उर में तनिक न आती लाज/ इस विडम्बनामय जीवन से तो अच्छा है मर जाना/ रणभेरी पर बज चुकी वीरवर पहनो केसरिया बाना।''

यदि हम उस समय के लोकगीतों पर नजर डालें तो इस पुस्तक में एक से एक उम्दा प्रेरक चयन पाते हैं जो उस समय की बुंदेली जनता की भागीदारी को सामने लाते हैं। ''बुड़की दै ले ओ यार जैसी सुंदर लाल बानियाँ/ से देखो न जाये बंदरा विलायत वालो/ गोरा ले लये पिरान उर्मल पै मशनगन घाल के/ दइया लागो गुहार लूटो गुड़ानो फिरंगिया।'' एसे ही आगे एक लोकगीत की एक झलक और देखिए, ''गंगा जू लाश उठावन जात सीस पै गोलिन की बरसात/ ढाल के मंडप दै तनाय भानू ज्यों बदरे में छिप जाय/ पिले त्यों सूर समर में आय, संजीवन वीर बनो वनरात/ सुंदर को भील उठावन लाग इन्दु सो हिंद भाल की पाग/ लगा के धरती माँ से ताग शहीदा ऐसे ही मर जात।''

ऐतिहासिक तथ्यों के साथ यह पुस्तक बहुत शोधपरक है। अंग्रेजी काल की मीडिया के अनुशीलन पर डॉ. भदौरिया का यह कार्य अच्छा है। इस विषय पर 'अंग्रेजी राज्य और प्रतिबंधित पत्र-पत्रिकाएँ' और 'शब्द-प्रतिबंध' उनकी दो पुस्तकें छप चुकी हैं। इस पुस्तक के अंतिम अध्याय में बुंदेलखंड के जनजागरण में जिनकी महत्वपूर्ण सहभागिता है, ऐसे कलम के धनियों को याद किया गया है, जिनमें बनारसी दास चतुर्वेदी, जिनका बुंदेलखंड में आगमन एक ऐतिहासिक घटना की तरह था। 'मधुकर' का सम्पादन काल उस समय का यादगार काल था। 'लोकवार्ता' भी किसी तरह कमतर नहीं था। बनारसीदास जी का यह कथन गौरतलब है, ''बुंदेलखंड की जो थोड़ी-सी सेवा मुझसे बन पड़ी, उसका श्रेय मुख्यत: वीर सिंह जूदेव को ही है। वे अच्छे लेखक थे, उन्होंने ही 'मधुकर' पाक्षिक पत्रिका का प्रकाशन कराया। चतुर्वेदीजी ने पूरे 32 साल बुंदेलखंड में व्यतीत किए और एक व्यक्ति नहीं, एक संस्था की तरह काम किया। बनारसीदास चतुर्वेदी के अलावा इस पुस्तक में रामेश्वर प्रसाद शर्मा, जो 'सरस्वती' के सहकारी सम्पादक थे, भी रहे। कोटरा जालौन के मूलचंद्र अग्रवाल, जो विश्वमित्र के सम्पादक रहे, बाबू बेनी प्रसाद श्रीवास्तव जिन्होंने आजीवन 'दिग्दर्शन', 'हिन्द राजस्थान', 'पब्लिक सिटी', 'फ्रीलिंकर', 'कालचक्र', 'प्रवाह' आदि पत्रों का प्रकाशन करते रहे।''

वियोगी हरि जो 'पतितबंधु', 'हरिजन सेवक' पत्रों के सम्पादक थे एवं रघुनाथ धुलेन, जो 'उत्साह', 'मातृभूमि', 'फ्रीइंडिया' के सम्पादक रहे, क्रांतिकारी परमानंद जी कृष्णगोपाल शर्मा, कृष्णानंद गुप्त आदि को भी इस परिशिष्ट में याद किया गया, जो गहन जानकारी से परिपूर्ण है। कहाँ श्रमसाध्य कर्म के मनीषी, कलमजीवी, कहाँ आज के सुविधाभोगी पत्रकारों की जमात जिनमें ज्यादातर लोगों को मालूम नहीं होगा कि कैसे ब्रिटिश काल में समाचारपत्रों के सम्पादकों ने अपने सम्पादकीय से लगातार एक-के-बाद एक जेल जाते रहकर भी पत्रों के सम्पादन को बन्द नहीं होने दिया था। इस समय के पत्रों में सम्पादक के लिए अक्सर ही विज्ञप्ति दी जाती थी, जिसमें ''वेतन की जगह दो सूखी रोटियाँ, हर सम्पादकीय के साथ 10 साल की कड़ी जेल'' इस प्रकार के तथ्यों से इस पुस्तक के पन्ने भरे हुए हैं।

हम 'स्वदेश' साप्ताहिक पत्र को भी याद कर सकते हैं, जो गोरखपुर से निकलता था और जिसके संपादक थे दरशरथ प्रसाद द्विवेदी।

आज विश्वबाजार के उदारीकरण के फेर में पड़ा यह देश तेजी से आर्थिक पराधीनता की ओर बढ़ रहा है, ऐसे समय में इस पुस्तक के निष्कर्ष मन को ढाँढस बँधाते हुए पत्रकारिता के इतिहास के अध्येताओं को प्रेरणा देते हैं।

बुंदेलखंड का स्वाधीनता आंदोलन और पत्र-पत्रिकाएँ/ संतोष भदौरिया/ स्वराज संस्थान, संचालनालय, संस्कृति विभाग, म.प्र. शासन/ मूल्य : 150/-

---

डी.एम. कॉलोनी, सिविल लाइन, बांदा (उ.प्र.)

rqPVrk dk gBh vkRedFkk

rkeksnj rÙkrhf{kr

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बहुचर्चित कथाकार मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा 'गुड़िया भीतर गुड़िया' की स्तुतिपरक समीक्षा पढ़कर स्वाभाविक उत्सुकता हुई। मैंने मैत्रेयी पुष्पा की रॉयल्टी में श्रीवृद्धि करते हुए पुस्तक खरीद ली और कई सिटिंग में पढ़ गया। पढ़कर लगा कि बहुत-सी चीजें पुस्तक में हैं, पर समीक्षा में नहीं हैं। इसी तरह बहुत-सी चीजें समीक्षा में हैं, पर पुस्तक में नहीं हैं। ऐसे में एक पाठक की हैसियत से पुस्तक पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने का मेरा स्वतंत्र मन बना।

आत्मकथा 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में मैत्रेयी पुष्पा अपने संस्कृत-ज्ञान के बारे में लिखती हैं, ''चौथी कक्षा में पाणिनी की अष्टाध्यायी कोर्स में थी।'' संस्कृत का सामान्य विद्यार्थी भी जानता है कि शुद्ध शब्द 'पाणिनि' है, पर मैत्रेयी जी 'पाणिनी' का प्रयोग करती हैं (115)। वह यह भी दावा करती हैं, ''सत्यार्थ-प्रकाश का एक-एक पैराग्राफ रट लिया था, क्योंकि कक्षा में सुनाना पड़ता था, प्रयोजन एकमात्र यही था।'' (115) इस पर हँसा ही जा सकता है। 'सत्यार्थ प्रकाश' पुस्तक कलेवर में इतनी छोटी नहीं कि मैत्रेयी जी एक-एक पैराग्राफ याद कर लें।

एक स्थान पर लेखिका जड़ताजनित बड़बोलेपन से कहती हैं, ''न जाने ऐसी खफा क्यों हुईं कि पीठ ही फेर ली। क्या इसलिए कि मैंने यह कहने की गुस्ताखी कर दी, डॉ. रेखा, यह आपकी थीसिस है। मैंने पढ़ ली। इसे लिखने में आपने चार साल लगा दिए। सच! यह तो मैं पंद्रह दिन में ही लिख देती।'' (20) पंद्रह दिन में पी-एच.डी. थीसिस? तौबा! शायद सारी दुनिया में कभी नहीं लिखी गई होगी। [यह बात पूरी तरह सही नहीं है। नामवर सिंह 'पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य' पर पी-एच.डी. के लिए बीएचयू से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में शोध कर रहे थे। फरवरी 1956 की अंतिम शाम में पंडितजी का उलाहना और 31 मार्च, 1956 को मैंने छपी-छपाई 'थीसिस' गुरुदेव के चरणों में रख दी, सारी तैयारी हो चुकी थी लेकिन यह थीसिस नामवरजी ने एक महीने में लिख दी। संपादक] फिर भी बड़बोली, अहंकार से झूमती लेखिका 'इग्नोरेंस इज ब्लिस' की आराधिका प्रतीत होती है।

लेखिका का कथन है कि उनके गाँव के किसानों ने ''फसलों की चार-चार किस्तें एक साल में काटी हैं।'' (103) खरीफ, रबी और जायद तीन फसलें तो सुनी हैं, यह चौथी फसल कहाँ से ले आईं, मैत्रेयीजी! वह लिखती हैं कि पटवारियों की हड़ताल के बाद भारत सरकार के नए हुक्मनामे के अनुसार लेखपालों की नई भर्ती होने लगी। (118) लेखपालों की भर्ती का हुक्मनामा उत्तर प्रदेश सरकार ने दिया था जिसके जनक तत्कालीन राजस्व मंत्री चौ. चरण सिंह थे। वस्तुतः यह राज्य सरकार का विषय है, भारत सरकार का नहीं।

लेखिका स्वयं को महान साहसी, महान विद्रोही और महान संघर्षशील सिद्ध करती हैं, पर क्या यह वास्तविकता है? जब 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के सह-सम्पादक ने उन्हें होटल जनपथ में बुलाया, तो वह यह कहने का साहस तक नहीं जुटा सकीं,

''सॉरी सम्पादकजी, मैं आपके दफ्तर तो आ सकती हूँ, पर रेस्टोरेंट, होटल, पार्क वगैरह में नहीं मिल सकती।'' बकौल लेखिका, सुप्रसिद्ध कथाकार मनोहर श्याम जोशी भी उनसे 'लिबर्टी' लेना चाहते थे जिसे वह नापसंद करती थीं। तब वह जोशीजी के घर क्यों गई थीं? किसी धर्मग्रंथ या मैनिफेस्टो में तो लिखा नहीं कि लेखिका (या लेखक) सम्पादक या लेखक के घर की गणेश-परिक्रमा करे। वह यह तक नहीं कह सकीं, ''जोशी सर, गलतफहमी मत पालिए। मैं आपके 'इंटरेस्टेड' नहीं हूँ।'' वक्त पर साफगोई न दिखाना कौन साहस की बात हुई और ऐसी छपासलोलुपता किस काम की।

लेखिका का संकेत कि 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' आदि पत्र-पत्रिकाओं में जो लेखिकाएँ छपीं, वे सब सम्पादकों-सह सम्पादकों-उपसंपादकों के सामने बिछकर ही छपीं, सही तो है ही नहीं, आपत्तिजनक भी है (इसी प्रकार जो लेखक छपे, वे सब चाटुकारितावश ही छपे हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता)। ऐसा संकेत कर लेखिका ने 'मेरिट' पर, प्रत्यक्ष द्वार से रचना प्रकाशित करवानेवाली लेखिकाओं का-जिनकी बहुत बड़ी संख्या है-अपमान ही किया है। लेखिका में आत्मविश्वास, साहस, स्वाभिमान और संघर्षशीलता की कमी रही है यद्यपि वह स्वयं को साहसी, स्वाभिमानी, संघर्षशील और विद्रोही के रूप में चित्रित करती हैं।

लेखिका को 'गॉडमदर' ने एक सही सलाह दी जो उन्हें रास नहीं आई। मैत्रेयी जी कहती हैं, ''साहित्य का क्षेत्र गुलामी के अड्डों और आपसी कुश्तियों के अखाड़ों से ज्यादा क्या है?'' (222) यह कथन अर्धसत्य तो है ही, पर स्वयं उन्हें गुलामी के अड्डों और आपसी कुश्तियों के अखाड़ों में कूदने से कहाँ गुरेज?

मैत्रेयी ने पहले तो माँ और पति द्वारा उत्पीड़ित किए जाने का भौकाल खड़ा किया, फिर उच्छृंखलता का स्पर्श करती स्वयं की विद्रोही और क्रांतिकारी छवि सृजित की। जिस तरह समाज में स्त्रियों का शोषण है, उत्पीड़न है, भेदभाव है, उसे देखते हुए मैत्रेयी को तो बहुत कम झेलना पड़ा। उनकी माँ कस्तूरी ग्रामसेविका थीं (बाद में स्वास्थ्य विभाग में हेल्थ विजिटर बनीं)। उनकी पोस्टिंग ग्रामीण क्षेत्र में ही होती थी जहाँ सब जगह स्कूल-कॉलेज मिल पाना सम्भव न था। इसलिए उस पुराने जमाने में जब स्त्रियों की माध्यमिक और उच्च शिक्षा ग्रामीण परिवेश में अत्यंत विरल हुआ करती थी, शिक्षा के प्रति जागरूक कस्तूरी ने मैत्रेयी को एक भले यादव-परिवार में रख दिया। विस्मय और इससे भी अधिक शर्म की बात है कि मैत्रेयी की काकान्वेषिणी दृष्टि इसमें भी बुराई तलाश लेती है। अगर कस्तूरी मैत्रेयी को साथ-साथ चिपकाए घूमतीं, तो निश्चय ही उनकी शिक्षा में बाधा पहुँचती और वह लेखिका बनने की स्थिति में भी न होतीं। शिक्षा के प्रति जागरूक बाबा और माँ कस्तूरी ने पहले भी प्रारम्भिक शिक्षा हेतु उन्हें कन्या गुरुकुल में भेजा था जो धुर देहात सिकुर्रा के लिए बहुत बड़ी बात थी। पर ये सब सद्भावनाएँ, दायित्व निर्वहन मैत्रेयी के लिए कोई अर्थ नहीं रखते और वह हस्बेमामूल आरोप मढ़ने से बाज नहीं आतीं कि अपनी निर्विघ्न स्वतंत्रता के लिए माँ ने अपने से अलग कर दिया (124)। सचमुच भलाई का जमाना नहीं। पाने के लिए अक्सर कुछ खोना पड़ता है। अगर माँ-बाप हर समय बच्चों को अपने से बाँधे रहते, तो बहुत-से बच्चे, अधिकांशतः ग्रामीण क्षेत्र के, न कभी पढ़ पाते, न कभी बढ़ पाते।

मैत्रेयी-पति डॉ. आर.सी. शर्मा 'ऑल इंडिया इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइंसेज' में थे। सरकारी मुलाजिमों को सीमित वेतन मिलता है। इस तथाकथित खुली किताब में डॉ. शर्मा की 'स्तुति' तो बहुत है, उनके व्यक्तित्व को रेशे-रेशे उघाड़ा गया है, पर इस बात का खुलासा नहीं किया गया कि वैभवपूर्ण जीवनशैली और भव्य पार्टियों-आयोजनों-समारोहों-अनुदानों के लिए डॉ. शर्मा के पास इतना पैसा आया कहाँ से?

मैत्रेयी जी अपने लेखन में स्त्री स्वातंत्र्य की पक्षधर हैं, स्त्री अस्मिता, स्त्री निजता की दुहाई देती हैं, पर अपनी माँ के संदर्भ में इस जीवन की आलोचना करती हैं। जैसे माँ स्त्री है ही नहीं। यह भी भूल जाती हैं कि माँ ने पढ़ाई के कारण उन्हें अलग रखा था। पढ़ाई 'बहाना' नहीं, 'कारण' था।

मृत्युशय्या पर माँ-बाप हों, तो क्रूर-से-क्रूर व्यक्ति भी दहल जाएगा और शायद ही कोई उन पर झुँझलाए। पर लेखिका शायद उस गुणराशि की हैं जो अकारण माँ-बाप पर गुस्सा उतारने, उन्हें अपमानित करने, उन पर झुँझलाने को ही जुझारूपन, संघर्षशीलता और क्रांति समझते हैं। स्त्री अस्मिता, स्त्री स्वाभिमान और स्त्री अधिकार का दम्भ भरने वाली स्त्री, अन्य स्त्री, वह भी सगी माँ के प्रति कितना क्रूर और संवेदनहीन हो सकती है, उसके जीवंत दस्तावेज हैं ये प्रसंग।

एक ओर मृत्युशय्या पर पड़ी माँ के प्रति यह दुर्भावना, यह संवेदनहीनता कि जीवनभर के दोष नजर आने लगे, दूसरी ओर जब राजेंद्र यादव अस्वस्थ हुए, तो वह सब कुछ भुलाने की नसीहत देती हैं, ''किसे याद रहता है इन दुर्धर्ष घड़ियों में कि राजेंद्र जी कितने दुष्ट और दुराचारी थे। जिन्दगी पर बन आए तो दोष ढूँढने की मोहलत कहाँ होती है?'' (301) हैरत होती है कि मैत्रेयी के दोहरे मानदंड वाले ये प्रसंग चाटुकार, सेवाभोगी और लोभी आलोचकों की आबालवृद्ध ब्रिगेड को दिखते नहीं या तो वे जानबूझकर आँखें ढाँप लेते हैं?

वह विवाह संस्था, तत्सम्बन्धित परम्पराओं और पति के विरोध का चीत्कार-फूत्कारपरक वर्णन करती हैं। मंगलसूत्र वगैरह को मरकन्नी गाय को पहनाए जाने वाले घटमल्ला (रस्सी में लकड़ी की मोटी कड़ी बाँधकर गले में लटकाया जाता है) जैसा बताती हैं (244)। अपनी मित्र इल्माना से कहती हैं, ''हमें अपनी निष्ठा और प्रीति भरी वफादारी को भूखे रहकर निभाना होता है। करवा चौथ के साथ पति की उम्र के चक्कर तो बेकार लगा दिया है।'' (63) देश की करोड़ों स्त्रियाँ करवाचौथ का व्रत नहीं रखतीं। विश्वास न था, तो लेखिका को

पहले ही करवाचौथ व्रत त्यागकर साहस का परिचय देना चाहिए था। पर उनका हाल तो वैसा ही रहा है कि इंकलाबी मुद्रा में हाथ भी उठा रहे और कांख भी न खुले।

स्वयं को महान साहसी, विद्रोही, जुझारू और क्रांतिकारी सिद्ध करने के लिए लेखिका कहती हैं, ''तलाक से घृणा नहीं, डर लग रहा था।'' सिर्फ जबानी जमाखर्च, कोरी शोशेबाजी, सिर्फ हवाहवाई। समझा जा सकता है कि वह कितनी साहसी, विद्रोही, जुझारू और क्रांतिकारी हैं।

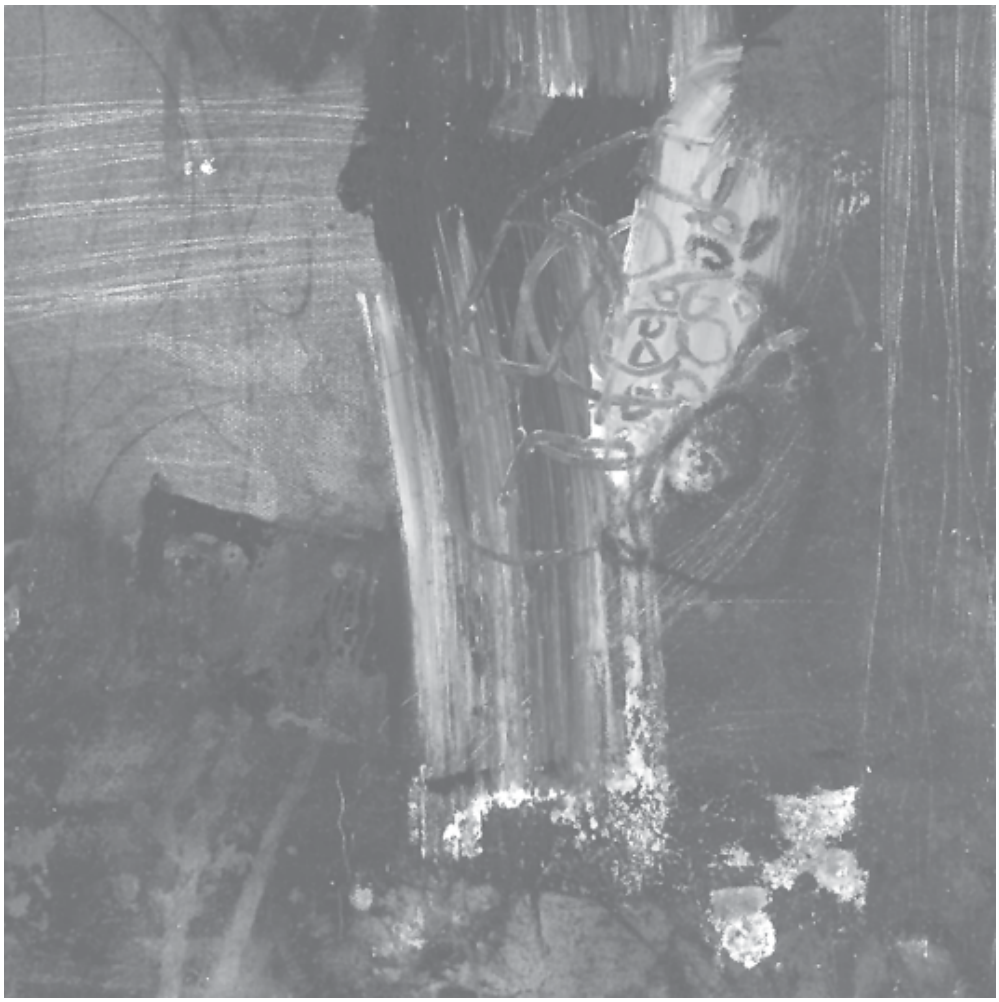

वह नकली विलाप करते हुए कहती हैं, ''अपनी दृढ़ता पर विश्वास उसी दिन कमजोर पड़ गया था, जिस दिन विवाह का कठघरा अपने हाथों रचा, नहीं तो इस सोने के पिंजड़े में बीहड़ जिन्दगी की आजाद तकलीफों को पूरी भावना के साथ क्यों याद करती रहती? बरजोर इच्छाओं की लम्बी शृंखला खींचतान क्यों मचाती?'' (255) अगर वाकई इतनी तकलीफ थी तो कठघरे को छोड़ा क्यों नहीं? सचमुच कुछ लोग दुख से नहीं, सुख से दुखी होते हैं। अगर सामान्य परिवार की मैत्रेयी का विवाह समृद्ध भविष्यत् वाले डॉ. शर्मा से न होता, तो जीवन कैसा होता, कितनी भौतिक सुविधाओं से वंचित होतीं, कितनी तकलीफें झेलनी पड़तीं, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है।

वह अन्यत्र भी विवाह से दुखी होने का अभिनय करती हैं। वह अपनी माँ से कहती हैं, ''माताजी, मैं अब विधवा कब हूँगी।'' (286) स्वजनों को तो जाने दीजिए, आमतौर पर परिचितों के भी मरने की लोग बाट नहीं जोहते। पर यह स्त्री उस पति के लिए, जिसने उसके लेखन के लिए बहुत कुछ किया। मरने की प्रतीक्षा कर रही है। जबकि अनेक दृष्टांतों से भी स्पष्ट है कि डॉ. शर्मा ने मैत्रेयी जी के साहित्यिक अभियानों में तन-मन-धन से सहायता की। इतना सद्भाव सामान्यत: पति-प्रजाति दिखलाती नहीं। पर बात-बात में खीजपरक 'उफ्' निकालने वाली मैत्रेयी जी उन्हें भी कोसने से बाज नहीं आतीं। शोषण-उत्पीड़न का काल्पनिक चंदोवा तानने का बालहठ जो पाल रखा है।

सह-सम्पादक के बुलावे पर मैत्रेयी पुष्पा उनसे होटल जनपथ की कॉफी शॉप में मिलीं। सह-सम्पादक ने मैत्रेयी जी को बुलाया था, तो बिल का भुगतान उन्हें करना चाहिए था। उनके बजाय मैत्रेयी जी ने कर दिया तो कोई बड़ी बात नहीं हुई। बिल भुगतान का घमंड के साथ वर्णन करना और सह-सम्पादक का उपहास करना तुच्छता के आत्मप्रलाप के सिवा कुछ नहीं। इसके विपरीत एक दूसरी तस्वीर भी है। 'हंस' सम्पादक राजेंद्र यादव ने पत्नी मन्नू भंडारी का घर छोड़ा, तो मैत्रेयी जी ने न जाने क्या-क्या सामान उन्हें मुहय्या करवाया। पर सह-सम्पादक के लिए एक मामूली बिल के भुगतान में उपहास पर उतर आईं और उनके अंदर याचक-दाता का भाव उत्पन्न हो गया। वही दोहरे मानदंड वाली बात।

आत्मकथा में लेखिका ने कई स्थानों पर दर्पपूर्वक उल्लेख किया है कि वह लेखकों-सम्पादकों को अपने पति के सौजन्य से दवाएँ उपलब्ध करवाती थीं, अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में इलाज की व्यवस्था करवाती थीं, उन्हें कार उपलब्ध करवाती थीं, वगैरह-वगैरह। इन सुविधाओं को वह महान कृपा और लेखकों-सम्पादकों की तुच्छता के रूप में चित्रित करती हैं। लेखकों-सम्पादकों की समुचित सहायता निश्चय ही प्रशंसनीय है, उज्ज्वल पक्ष है, पर जिस अहंकार से, लेखक-सम्पादक को दयनीय बताते हुए गायन किया गया है, वह ऐसे ही है जैसे कोई मंदिर के सामने गलाफाड़ आवाज में चीखते हुए गरीब-गुरबाओं को

पूड़ी-सब्जी वितरित कर रहा हो या रास्ते में ऊँचे तख्त पर सुदर्शन मुद्रा में बैठकर शर्बत पिलाते हुए फूलकर कुप्पा हुआ जा रहा हो। मैत्रेयी जी के पति डॉ. शर्मा भी ऐसी सहायता स्वीकार करने वाले लेखकों-सम्पादकों का उपहास करने में, उन पर व्यंग्य-बाण छोड़ने से नहीं चूकते (287)।

'हंस'-सम्पादक और कथाकार राजेंद्र यादव पर मैत्रेयी पुष्पा इस कदर मुग्ध हैं कि होशो-हवास खो बैठती हैं। एक ओर सह-सम्पादक और मनोहरश्याम जोशी के प्रणय-संकेतों को उजागर करने में वह जरा भी नहीं हिचकतीं, दूसरी ओर राजेंद्र यादव के एक विवाहेतर सम्बन्ध को छिपाने की वकालत करती हैं। मन्नू भंडारी ने राजेंद्र यादव के एक विवाहेतर सम्बन्ध के बारे में बताया, तो वह 'ऐगनि आंट' की मुद्रा में इस प्रकरण को सार्वजनिक न करने की बात करती हैं क्योंकि ''सार्वजनिक होगा तो लोग चटखारे ले-लेकर छापेंगे, क्योंकि आप दोनों ही प्रसिद्ध लेखक हो।'' (299) सहायक सम्पादक, मनोहर श्याम जोशी और राजेंद्र अवस्थी (ये सब भी प्रसिद्ध लेखक हैं) खलनायक बनें तो बनें, पर उनके समानधर्मी राजेंद्र यादव को वह दुनिया की निगाह में खलनायक नहीं बनने देंगी। मानो राजेंद्र जी की छवि निर्मित करने का ठेका ले रखा हो।

एक स्थान पर वह कहती हैं, ''काश, मैं उनके (राजेंद्र यादव के) इतनी नजदीक रही होती कि दुश्चरित्रता देख पाती।'' (301) अजीब ही नहीं, हास्यास्पद स्थिति भी है। लेखिका को दुश्चरित्रता देखने की बहुत उत्सुकता और उत्साह है, पर राजेंद्र यादव की, सह-सम्पादक और मनोहर श्याम जोशी की नहीं। यह कौन-सा पैमाना है कि अन्य लेखकों की दुश्चरित्रता तो हेय हो जाती है, पर राजेंद्र यादव की दुश्चरित्रता पूज्य हो जाती है? इस सवाल का जवाब मैत्रेयी जी ही दे सकती हैं?

पति राजेंद्र यादव की कुछ बातों से दुखी होकर मन्नू भंडारी ने उन्हें घर खाली करने के लिए कह दिया। इस पर स्त्री-अस्मिता, स्वाभिमान और अधिकार की पक्षधरता का दावा करने वाली मैत्रेयी पुष्पा मन्नू भंडारी के साथ नहीं, राजेंद्र यादव के साथ खड़ी नजर आती हैं (300)। भगवान जाने यह यादव जी का सम्मोहन है या छपास का? पर यह सवाल जरूर उठता है कि तब स्त्री अस्मिता, स्वाभिमान और अधिकार की मुखर पक्षधरता के दावे का क्या हुआ?

स्वसौन्दर्य वर्णन में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है, पर ऐसा करते हुए, यहाँ तक कि अपनी लम्बाई के वर्णन में भी, मैत्रेयी जी ने अतिशयोक्ति का आश्रय लिया है। ऐसा लगता है जैसे 50-55 प्रतिशत की क्षमता का छात्र 90 प्रतिशत अंक देने का बालहठ कर रहा हो। पता नहीं राजेंद्र यादव को ऋषि विश्वामित्र से तुलना किया जाना रुचा या नहीं। वैसे वह इतने शर्मीले और अरसिक नहीं हैं कि उनके कमरे में कोई स्त्री आए और वह उसे देखें तक नहीं। जो उन्हें जानते हैं, वे यह बात अच्छी तरह से जानते हैं। साधना अग्रवाल ने इस सम्बन्ध में यों प्रतिक्रिया व्यक्त की है, ''गलत, राजेंद्रजी हिन्दी साहित्य में काले चश्मे के पीछे से स्त्री देह को भेदने के लिए ही बदनाम हैं।'' (334) वैसे सज-धज कर सम्पादक को रिझाने वाली बात का मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल, चंद्रकांता, कमल कुमार आदि लेखिकाओं ने डटकर प्रतिवाद किया है (334-335)।

पंद्रह दिन में पी-एच.डी. थीसिस लिखने का दावा करने वाली, सदैव उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण होने वाली, हिन्दी से पोस्ट ग्रेजुएट, संस्कृत-मर्मज्ञ और महान लेखिका होने का दावा करने वाली मैत्रेयी जी ने आत्मकथा में कुछ सामान्य शब्द भी अशुद्ध लिखे हैं। जिनकी सूची प्रस्तुत करने की जरूरत नहीं है।

आत्मकथा आत्मकुशलता, आत्म-श्लाघा, आत्मप्रवंचना और आत्ममुग्धता की अतिक्रमणकारी छवियों से आक्रांत हैं। वह लिखती है, ''कस्तूरी की सुगंध मेरे भीतर कहाँ छिपी थी कि अब साहित्य के संसार में पाठकों की नजर को महकाने लगी।'' (328) आत्मश्लाघा और आत्ममुग्धता के ऐसे ढेरों प्रसंग हैं। थोड़ी-बहुत आत्मप्रशंसा हो, तो हजम हो जाए। आत्मकथा का मूल उद्देश्य ही आत्मप्रशंसा लगता है। अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा हास्यास्पदता की सीमा तक पहुँच जाती है। तुच्छताओं को अस्मिता, स्वाभिमान और स्वातंत्र्य से जोड़ने की कोशिश की गई है। इसमें शक नहीं कि लेखिका के अपने संघर्ष रहे हैं, पर संघर्षों का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया गया है और इस प्रयास में अनेक अंतर्विरोध उभरकर सामने आते हैं। विवाहोपरांत लेखिका का जीवन सुख-सुविधा सम्पन्न और करीब-करीब समस्याविहीन रहा है। पर इस कालावधि में भी काले और भूरे रंग भरने की भरपूर कोशिश की गई है। समृद्धि और राजेंद्र-कृपा के कारण उन्हें क्षमता से कहीं अधिक साहित्यिक पहचान मिली है, यश मिला है, गौरव मिला है। सामान्य वर्ग की स्त्रियों जिनमें सामान्य वर्ग की लेखिकाएँ भी शामिल हैं, की समस्याओं और संघर्ष के आगे उनकी समस्याएँ और संघर्ष बौने लगते हैं।

मैत्रेयी पुष्पा का दावा है, ''मैंने इस किताब में अपनी समूची सामर्थ्य लगाकर सुंदर कम और सत्य ज्यादा लिखा है, इस बात का विश्वास कैसे दिला सकती हूँ?'' (332) विश्वास तो विशुद्ध सत्य से ही दिलाया जा सकता है, मैत्रेयीजी। मुश्किल यह है कि आत्मकथा 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में सत्य में मिथ्या का मिश्रण है, सहजता के बजाय चालाकी है, नीर-क्षीर विवेक के बजाय आत्मप्रशंसा, आत्मप्रायोजन और आत्ममुग्धता पर जोर है। इस नाते यह अति सामान्य आत्मकथा बनकर रह गई है, भले ही चाटुकार, सेवाभोगी और लोभी आलोचकों की आबालवृद्ध ब्रिगेड कितना ही 'अहो रूपं, अहो ध्वनिः' का आर्तनाद करे।

गुड़िया भीतर गुड़िया/ मैत्रेयी पुष्पा/ राजकमल प्रकाशन, 1बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : रु. 395.00

ए-130, पांडव नगर, मेरठ-250003

y[kuÅ uf.kjoj cSadkWyksuh u,sh vkik

tkfgk fgk

जून के महीने की झुलसा देनेवाली गर्मी थी उस शाम। लेकिन उसी शाम ने दिल व दिमाग को जो ताजगी, जो ठंडक बख्शी उसका एहसास आज भी ताजा है।

रिवर बैंक कॉलोनी, जो गोमती नदी के किनारे बसे होने के कारण उसी नाम से जानी जाती है या थी (थी इसलिए कि यह बात 1963 की है) और अब नए बसने वाले इलाकों के नामों में शायद कोई बदलाव आ चुका हो। जहाँ तक हमें याद है उस जमाने में लखनऊ के बड़े पत्रकार, शायर व लेखक इसी कॉलोनी में रहते थे जिनमें एक बहुत बड़ा नाम जनाब हयात-उल्लाह अंसारी, संपादक, दैनिक कौमी आवाज का भी था। यद्यपि उनका उपन्यास 'लहू के फूल' प्रकाशित नहीं हुआ था। हयात उल्लाह अंसारी और उनकी पत्नी बेगम हयात उल्लाह अंसारी राजनीतिज्ञ होने के साथ-साथ एक सामाजिक कार्यकर्ता भी थीं, उनका अपार्टमेंट भी इसी कॉलोनी में था।

हम लोग मैट्रिक की परीक्षा दे चुके थे। हम लोगों से तात्पर्य है फरजाना अंसारी, जो अब फरजाना एजाज हैं और बहुत खूबसूरत कहानियों की लेखिका भी, परिणाम की प्रतीक्षा में अपना समय खुशगप्पियों, घूमने-फिरने और इधर-उधर की बातों में व्यतीत कर रहे थे। उस समय में हमारा परिवार भी फिरंगी महल में निवास करता था। यह घर मौलाना शफी मियाँ फिरंगी महल के विशाल घर का एक अंश मात्र था। जिन लोगों को फिरंगी महल को देखने का अवसर प्राप्त हुआ हो वे समझ सकते हैं कि वहाँ एक घर से निकलिए तो दूसरा घर, दूसरे से निकले तो तीसरा घर और यहाँ तक कि एक-दूसरे मोहल्ले का छोर यानी फूल वाली गली, 'मतबा खाना' या टकसाल आरम्भ हो जाए।

फरजाना अंसारी मुफ्ती रजा अंसारी की बेटी न सिर्फ हमारी रिश्तेदार बल्कि जिगरी दोस्त भी है। यह परिवार शिक्षा और साहित्य के लिहाज से किसी परिचय का मोहताज नहीं है। फरजाना अपनी रिश्तेदारी की बिना पर हयात उल्लाह अंसारी को हयात उल्लाह चचा और हम उन्हें हयात उल्लाह मामू कहते थे, इसलिए कि वह उनके भाई हमीद उल्लाह अंसारी, स्वर्गीय मजाज, जज्बी, जांनिसार अख्तर यह सब हमारे मामू अफजाल अहमद रज्जाकी के दोस्त थे, खासतौर पर स्वर्गीय मजाज़, जिनका ज़िक्र बचपन से सुनते आए थे और उन लोगों को देखा भी वहीं था।

एक दिन मियाँ (मियाँ यानी मुफ्ती रज़ा अंसारी, जिनको शायद उनके रुतबे के लिहाज़ से मियाँ कहते रहे होंगे, जैसा कि लखनऊ की परम्परा भी थी। उनके बच्चे और छोटे सभी लोग मियाँ कहते थे। वे हमें बिल्कुल अपनी बेटियों की तरह चाहते थे, इस तरह यह घर हमारा दूसरा घर था) ने दफ्तर जाते हुए कहा, लड़कियो! तुम लोग आज शाम को हयात उल्लाह भाई के घर चली जाना, उन्होंने कुर्रतुल ऐन हैदर के सिलसिले में एक बैठक आयोजित की है, भाभी ने कहा है कि चाय वगैरह में उनकी मदद करा दो।

अंधा क्या चाहे दो आँखें। हम लोग खुशी से फूले नहीं समाए। मैट्रिक की लड़कियों का अल्लहड़पन, प्रसन्नता, यह भाव, अरे, हमें यह सम्मान कि हम ऐसी महफिलों की मेज़बानी करें।

लोगों का आना शुरू हो चुका था। हिन्दी साहित्य से जुड़ी शख्सियतों में एक बड़ा नाम अमृतलाल नागर का था, वह महफिल में मौजूद थे। उनके अलावा आबिद सुहैल, अहमद जमाल पाशा, मंजर सलीम, रतन सिंह, उस्मान ग़नी और लखनऊ की बहुत-सी नामचीन हस्तियाँ, जिनके नाम अब याद नहीं हैं, सभी मौजूद थे, लेकिन एक नाम जिनको पहली बार इस महफिल में देखने का सौभाग्य मिला और जिनकी तस्वीर 'बीसवीं सदी', 'नकूश' में बार-बार देख चुके थे वह थे रामलाल। वह फरज़ाने से मुखातिब हुए, मौलाना साहब नहीं आए? फरज़ाना ने बताया कि मियाँ 'कौमी आवाज़' के किसी महत्वपूर्ण अंक के सिलसिले में अतिव्यस्त थे।

और फिर वह हस्ती आ गई जिसके लिए इस बैठक का आयोजन हुआ था। यह वह ज़माना था जब कुर्रतुल ऐन हैदर पाकिस्तान को सदा के लिए छोड़कर स्थायी तौर पर भारत वापस आ चुकी थीं। लेकिन इसके पहले तीन साल सम्भवत: उन्होंने लंदन, अमेरिका में गुजारे थे। यह हम यकीन से इसलिए नहीं कह सकते हैं कि उस समय तक न तो इतनी जानकारी थी, न इस योग्य थे। वह तो हमारा परिवार और माहौल था जिसने इन बड़े-बड़े लेखकों और शायरों से परिचय कराया था।

सिल्क की सुन्दर साड़ी, तराशे हुए

खूबसूरत बाल, खुशबू के झोंके के साथ ऐनी आपा आती हैं। ''क्या मुझे देर हो गई?'' प्रतीक्षा कर रहे सारे लोगों पर निगाह डालती हैं। न किसी से कोई परिचय, न स्वागत के शब्द उनके बारे में, चूँकि वह स्वयं अपना परिचय आप थीं। लम्बे समय के बाद लखनऊ की धीमी-धीमी बहती गोमती नदी के किनारे सांझ का एक खुशगवार झोंका बनकर ऐनी आपा आई थीं। कमरे में ख़स की टट्टियों की महकती फ़ज़ा में ऐनी आपा की खुशबू घुल-मिल गई थी।

इस बीच हम लोगों ने बावर्चीखाना संभाला हुआ था। हमें अंदाजा था कि संगोष्ठी काफी देर तक चलेगी और इस बीच हम लोगों को चाय-नाश्ता भी देना था।

उस समय तक हम ऐनी आपा को नहीं जानते थे जिन पर फ्यूडल क्लास की नुमाइंदा, जागीरदारी व्यवस्था का नूहा (वह कविता जो मातम में पढ़ी जाती है) पढ़ने वाली, मिज़ाजपरस्त, ड्राइंगरूम का साहित्य लिखने वाली, कट्टरवादी, पोम पोम डार्लिंग, वर्जिनिया वुल्फ और जेम्स ज्वायस से प्रभावित होनेवाले जैसे आलोचनात्मक आरोप थे या उनके समकालीन की यह ईर्ष्या कि उनके स्तर के उर्दू उपन्यास लेखन को कोई नहीं पहुँच सका। यकीनन कमरे में प्रशंसा के साथ ये चर्चाएँ भी शामिल होंगी और न ही उस समय तक हम लोगों ने 'आग का दरिया' या 'मेरे भी सनमखाने' पढ़ा था। न उस समय उनकी नई तकनीक 'स्ट्रीम ऑफ कांशनेस' से सम्बन्धित कोई बात तय करने के योग्य थे। हम तो बस खुशी-खुशी इन हस्तियों की खातिर मदारत करने में ही बड़ा गर्व महसूस कर रहे थे।

कहकहे गूँज रहे थे। लोगों के प्रश्न थे। पाकिस्तान क्यों छोड़ा? वहाँ से सम्बन्धित बातें, यादें, गुजरी हुई पुस्तकों पर टिप्पणियाँ, आनेवाली रचनाओं से सम्बन्धित बातें, ढेर से प्रश्न, ढेर-सी बातें।

एक बहुत दिलचस्प घटना, जो इस खूबसूर शाम से जुड़ी है, याद आती है। ऐनी आपा अपनी साड़ी का बड़ा-सा पल्लू संभालती हुई चाय की प्याली हाथ में लिए रसोईघर की तरफ आती हैं। बात यूँ थी कि फैशन के तौर पर या वाकई कुछ लोग चाय में कम शक्कर पीते हैं, इस बात को ध्यान में रखते हुए फरज़ाना ने ऐनी आपा की चाय में आधा चम्मच शक्कर डाली थी। हम लोगों को सम्बोधित किया-किस बच्ची ने यह चाय बनाई है? इसमें और शक्कर डालो, भई, चाय के मामले में मैं बड़ी गँवार वाकय हुई हूँ। उनके इस अंदाज़ पर हम तो कुर्बान हो गए कि चाय में ज्यादा शक्कर पीने पर हमारा बड़ा मज़ाक उड़ता था कि तुम चाय पीती हो या हलवा खाती हो? और आज भी लोग स्वास्थ्य की खातिर ही सही टोक देते हैं। लेकिन उस समय तो हम (गैर साहित्यिक भाषा में) और चौड़े हो गए बजाय शर्मिंदा होने के। और आँखों-आँखों में फरज़ाना से कह रहे थे, देखो बच्चू! हम सबकी आइडियल भी ज्यादा शक्कर लेती हैं।

उस समय ऐनी आपा की शख्सियत का जादू विचित्र था। वह सबसे बड़ी बेतकल्लुफी से हँस-हँस कर बातें कर रही थीं। इतनी बड़ी हस्ती, इतनी सादगी। मौजूदा लखनऊ की बातें हो रही थीं। उस समय लखनऊ के एक मेयर थे मिस्टर मोहन (जो ब्रेवज़ीज और शराब की फैक्ट्री मोहन मेकेंज के मालिक भी थे) उन्होंने लखनऊ में काफी प्रगति के कार्य किए थे। उस समय शायद कैसर बाग और हजरत गंज के बीच, जो चौराहा था, उस पर उन्होंने मछली की शक्ल का बड़ा-सा फव्वारा बनवाया था। ऐनी आपा को वह शक्ल अजीब भयानक लगी थी। वह कहने लगीं यह आपका मेयर अजीब बदज़ौक है। क्या डरावनी शक्ल बनाई है इतने मासूम जानवर की। बहुत से लोगों ने अपनी स्वीकृति दी। खूब कहकहे लगे।

उस समय जो बातें सबसे प्रभावित करनेवाली थीं वह थीं ऐनी आपा का सरापा (structure)। (शायद हम लोगों की उम्र का तक़ाज़ा था)। ऐनी आपा कमरे से बाहर आती हैं ड्रेसिंग टेबिल के पास पर्स खोलकर खुश रंग लिपिस्टिक लगाती हैं। तरशे हुए सुंदर बाल ठीक करती हैं। हम लोगों की तरफ मुस्करा-मुस्करा कर देखती हैं।

अब चाय का दौर खत्म हो चुका था। हम लोग भी अपनी जैसी-तैसी हैसियत मनवाने के लिए महफिल में शरीक हो गए। अभी हमारा परिचय मात्र इतना था कि फरजाना का सम्बन्ध फिरंगी महल के बड़े इल्मी घराने से था। मुफ्ती रज़ा अंसारी साहब प्रगतिशील आंदोलन के अपने समय सरगर्म मेंबर थे। उनके घर के आंगनों में भी प्रगतिशील आंदोलन के छोटे-मोटे जलसे होते थे। मौलाना हसरत मोहानी फिरंगी महल का विशेष आकर्षण थे। सज्जाद ज़हीर, जां निसार अख़्तर, अख्तरूलईमान, मजरूह सुल्तानपुरी, जज़्बी साहब और अनगिनत राजनैतिक और साहित्यिक आंदोलन से जुड़े लोग मौलाना अब्दुल बारी फिरंगी महली और हसरत मोहानी जैसी बड़ी शख्सियत का आकर्षण उनको इस द्वार पर न खींच लाती हो।

एक मज़ेदार बात, जो यहाँ से जुड़ी यह है कि जब लम्बे अर्से के बाद या शायद पाकिस्तान पलायन कर जाने के बाद जोश मलीहाबादी भारत तशरीफ ले जाते हैं। लखनऊ के यार-दोस्तों के बारे में जरूर पूछते हैं। कौन कहाँ है? किस हाल में है? मालूम करते हैं, भई, वह अपना रज़ा कहाँ है? किसी से उत्तर मिलता है, जनाब, वह मुफ्ती रज़ा अंसारी के बारे में पूछ रहे हैं आप? जोश साहब चौंकते हैं, क्या? मुफ्ती रज़ा अंसारी, मुस्करा कर कहते हैं-''जिस को चाहे खुदा ख़राब करे।''

हम ठहरे काकोरी के वरना उस वक्त वही 'चे पिददी चे पिददी का शोरबा'।

लेकिन यह बड़प्पन था ऐनी आपा का कि वह हम लोगों से मुखातिब हुईं- और बच्चियों, तुम लोग क्या कर रही हो? क्या करने का इरादा है? उर्दू भाषा से कितनी दिलचस्पी है? साहित्य पढ़ो। और ऐसी ही कितनी बातें। भारत में उर्दू भाषा के धीरे-धीरे पतन होने की बातें। वह हम लोगों की उर्दू में इतनी दिलचस्पी देखकर बहुत खुश हुईं। फिर एकदम वह हमसे कहने लगीं- मेरी एक दोस्त है अमेरिका में। वह और उसके पति दोनों डॉक्टर हैं। उनके दो बच्चे

हैं कमउम्र। वे दोनों अपने व्यवसाय में बहुत व्यस्त रहते हैं। उनकी इच्छा है कि उनके बच्चे अपनी भाषा और अपनी सभ्यता से अनभिज्ञ न रहें। उन्होंने यह काम मेरे सुपुर्द किया है कि मैं उनके लिए किसी अच्छे घर की कोई लड़की तलाश करूँ। क्या तुम अमेरिका जाओगी? पहले तो हमें अपने कानों पर यकीन नहीं आया। कहाँ हम, कहाँ अमेरिका? फिर अपने घर की भलाई का जज़्बा। मैट्रिक के बाद ही नौकरी शुरू कर देंगे। दिल हिलोरें ले रहा था। बगैर किसी देरी के ऐनी आपा पर्स से डायरी निकाल कर हमारा पता नोट करती हैं। इस बात को अभी एक महीना ही गुज़रा होगा कि एक खत हमें मिलता है। वह मोहतरमा हमें अपना पासपोर्ट और दूसरे विवरण भेजने के लिए लिखती हैं। खत में ही ऐसा आदर कि जिसके योग्य हम अपने को नहीं समझते थे। खत फ़रजाना को दिखाया, उसने तो एक तूफान खड़ा कर दिया। फरज़ाना, जो बड़ी बुकरातन और दूरदर्शी थी, उस समय भी यानी इतनी कम उम्र में–बड़ी आई है अमेरिका में नौकरानी बनने वाली, माना कि ऐनी आपा बहुत अच्छी हैं, मगर क्या मालूम वे लोग कैसे हैं....। मैं, अम्मी और भाईजान से बात करती हूँ कि साहबजादी अभी से इतने बड़े–बड़े निर्णय लेने चली हैं, अमेरिका जाने पर तुली हैं, वगैरह–वगैरह। हमारा अमेरिका जाने का सपना चूर–चूर और नशा हिरन हो गया। फैसले हम नहीं, किस्मत करती है। बहुत दिनों तक वह पत्र हमने संभाले रखा क्योंकि वह ऐनी आपा के हवाले से था।

फिर ऐनी आपा 'विलिटज' (बम्बई) से जुड़ी रहीं। उनके बारे में न सिर्फ खबरें, उन पर होने वाली आलोचनाएँ एवं टिप्पणियाँ, यहाँ तक कि उनकी जिन्दगी का कोई पहलू ऐसा नहीं था जिसमें हमारी दिलचस्पी न हो।

समय गुज़रता रहा। 1982 की बात है। ऐनी आपा आईं। उस समय लखनऊ में, जो साहित्यिक संस्थाएँ थीं, उनमें 'बज्मे अदब नवाज़ाँ', 'बज़्मे ख़वातीन' और भी बहुत से साहित्यिक ग्रुप थे। हर किसी की इच्छा थी कि वे यहाँ उनकी उपस्थिति का फायदा उठाएँ। उस ज़माने में ज़ेबा सलाहउद्दीन जो बज़्म से जुड़ी थीं (उनके पति सलाहउद्दीन उस्मान एक अंग्रेजी समाचारपत्र के वरिष्ठ पत्रकार और मुशफक ख्वाजा (स्व.) के साढू भी हैं) और अर्से से अदबी मजालिस (साहित्यिक गोष्ठियों) के आयोजन में अहम भूमिका निभाती रही हैं, उन्होंने एक आयोजन किया और उस शाम को ऐनी आपा के नाम समर्पित किया। यह गोष्ठी लखनऊ (अमीनाबाद) की सुप्रसिद्ध कोठी नेमतउल्लाह बिल्डिंग के बहुत बड़े हाल में आयोजित की गई। यह एक यादगार शाम थी, लखनऊ की उस समय की मशहूर कथा लेखिकाएँ आयशा सिद्दीकी, रफीया मंजूरूल अमीन, सबीहा अनवर और बेगम इकतदार आला आदि ने अपनी कहानियाँ सुनाईं।

अब से बीस–इक्कीस बरस पहले, जिन ऐनी आपा से हमारी मुलाकात हुई थी वह ऐनी आपा अब कहीं नहीं थीं, एक कम बोलने वाली, ख़ामोश, सोच में डूबी हुई ऐनी आपा हमारे सामने थीं, जैसे कि वहाँ हैं.... और नहीं भी। यह उनकी महानता थी कि उन्होंने शिरकत की, हमारी प्रार्थना स्वीकार की।

इस बीच हमें मालूम हुआ कि ऐनी आपा पाकिस्तान आई हैं। उनकी भांजी नाहिद हैदर साहिबा ने वादा किया कि वह अवश्य उनसे मिलाएँगी। मगर अफसोस कि किसी वजह से देर हो गई और वह वापस चली गईं।

1994 में हमारा देहली जाना हुआ और जाकिर बाग में अपनी जिन रिश्ते की बहन के यहाँ हम ठहरे थे, उन्हीं फ्लैटस में ऐनी आपा भी रहती थीं, यह उनके नोएडा में शिफ्ट होने से पहले की बात है। निगार नोमानी जामिया की लाइब्रेरियन थीं। हमारी ऐनी आपा से मिलने की तड़प को देखते हुए उन्होंने कहा कि वह अवश्य हमें मिलाएँगी। आमतौर पर मशहूर था कि ऐनी आपा अब बहुत खामोश जिन्दगी जी रही हैं, बहुत कम किसी से मिलती–जुलती हैं, फिर हमारी क्या बिसात? निगार ने कहा–ऐसी भी अंधेर नहीं है, हम लोगों से मिलने से वह कभी इनकार नहीं करेंगी।

हमारे जेहन में जिन ऐनी आपा की छवि थी वह अपनी जगह से टस–से–मस नहीं हो रही थी। हम 'विलाओं' में जा रहे थे। बड़ी–सी कोठी के ग्रीन मखमली लॉन और बीच में सफेद संगमरमर के मुजस्समे से फूटता फव्वारा था, जहाँ बड़े–बड़े चबूतरों पर सफेद चांदनी बिछी थी, खूबसूरत गरारों, साड़ियों में छिपी महिलाएँ, हम अपनी खुली आँख से वहीं कहीं ऐनी आपा को तलाश कर रहे थे। इस छोटे से फ्लैट की सीढ़ियाँ हमें यह यकीन दिलाने में नाकाम थीं कि ऐसी आपा वहाँ नहीं....यहाँ हैं। विभिन्न दवाओं की शीशियों के बीच, किताबों से भरी अलमारियों के बीच, अपने ऊपर की जाने वाली आलोचनाओं के तीरों के बीच। अफसोस कि ऐनी आपा डॉक्टर को दिखाने गई थीं और वह मुलाकात जो शायद आखिरी होती उनसे नहीं हुई।

'दुनियाज़ाद' हमें 'आशयाना' ले जाता है। बहुत रुलाता है। ऐनी आपा उस पानी के भरे गिलास को उछालती हुई आगे बढ़ चुकी हैं।

हमें विश्वास है कि सैय्यदानियों से उनकी वसीयत पर अमल नामुमकिन होगा। आँखों के दायरे जरूर सूजे होंगे। काले लिबास ने उस उदास, ग़मगीन शाम को और भी ग़मगीन बना दिया होगा।

दिल को सुकून मिला। अपनी वसीयत उन्होंने बिल्कुल इस्लामी कानून और इस्लामी मिज़ाज के मुताबिक की। हिन्दुस्तान से उन्हें मोहब्बत थी, उस मिट्टी में दफन होने की ख्वाहिश जायज़ थी। वरना औरों ने तो अपनी 'राख' घरवालों को जगह–जगह बिखेरने की वसीयत की थी।

खुदा ऐनी आपा को जन्नतुल फिरदौस में जगह दे। आमीन।

अनुवाद : डॉ. फारूक अंसारी, रीडर, भाषा विभाग, एनसीआरटी, नई दिल्ली–110016

^vkykspuk*D;ksa\

f'koku flag pkSgku

हमारे सहित्य और जीवन की जिन सामयिक और स्थायी आवश्यकताओं ने आलोचना का प्रकाशन अनिवार्य बना दिया, उनका संक्षेप में निर्धारण यों किया जा सकता है :

आचार्य शुक्ल के पश्चात् हिन्दी-आलोचना ने अपने विकास के लिए नए पथ खोजे–समाज-शास्त्र का आधार लेकर, 'प्रगतिवाद' और मनोविज्ञान का आधार लेकर 'प्रतीकवाद' की विचार-धाराएँ साहित्या-लोचन का दृष्टिकोण बनीं। परन्तु पिछले कई वर्षों से हिन्दी का आलोचना-साहित्य एक अवांछित गतिरोध की स्थिति में पड़कर मनमाने पथों पर भटकता रहा है। प्रगतिवादी आलोचना ने अपने प्रारम्भिक काल में हमारे साहित्यकारों को नई दृष्टि दी और उन्हें अपने सामाजिक कर्तव्यों के प्रति जागरूक किया। आधुनिक हिन्दी साहित्य, विशेषकर छायावादी कविता का नए दृष्टिकोण से मूल्यांकन करते समय प्रगतिवादी आलोचना ने साहित्य के नए वैज्ञानिक मान-मूल्यों का निर्धारण करने की ओर प्रवृत्ति दिखाई और सामाजिक जीवन और संघर्ष के व्यापक प्रश्नों से साहित्य का सम्बन्ध कराने की चेष्टा में उसने अनेक प्रचलित शुद्ध कलावादी, असामाजिक और प्रतिगामी प्रवृत्तियों और विचार-धाराओं से संघर्ष भी किया। प्रगतिवादी आलोचना यदि इसी प्रकार अपने वैज्ञानिक और रचनात्मक पथ पर अग्रसर होती रहती तो सम्भवत: आज की-सी अराजकता न फैली होती। हमारा आलोचना-साहित्य अधिक सम्पूर्ण और उच्च कोटि का होता। अपने साहित्यिक इतिहास और आधुनिक साहित्य का समुचित मूल्यांकन करने के लिए हमने वैज्ञानिक मान-दण्डों की स्थापना करने में आशातीत सफलता पा ली होती। आज हमारा दृष्टिपथ अपेक्षया अधिक विस्तृत और व्यापक होता। हम अपने साहित्य की विशिष्ट प्राणवन्त परम्परा के उत्तराधिकार को सहेजे, साहित्य के माध्यम से जन-सेवा के पथ पर आश्वस्त भाव से आगे बढ़ते होते और जन-जीवन के सामयिक वास्तव को सच्चाई और गहराई से प्रतिबिम्बित करने वाले श्रेष्ठ कलात्मक साहित्य की रचना के लिए प्रेरणा-केन्द्र बन गए होते।

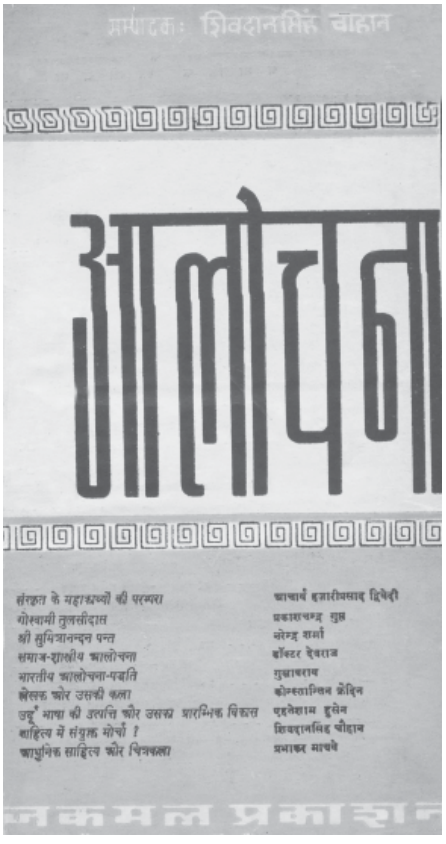

परन्तु हुआ यह कि प्रगतिवादी आलोचना के क्षेत्र में विकृत समाज-शास्त्रीयता का प्रतिपादन करने वाली एक नकारात्मक संकीर्ण मतवादी प्रवृत्ति ने अपना अकांड ताण्डव रचकर ऐसी असैद्धान्तिक और अबुद्धिवादी आलोचना-पद्धति चलाई जिसके आतंक के सामने प्रेरणा और अनुभूति के स्रोत बन्द होने लगे, वस्तु-सत्य की संवेदनशील प्रतिभा के पौधे मुरझाने लगे और साहित्यालोचन के मान-दण्ड इस स्वेच्छाचारी संकीर्ण दृष्टिकोण की वेदी पर बलिदान कर दिए गए।

इसके विपरीत मनोविज्ञान का आधार लेकर आलोचना-क्षेत्र में जो विचारकोण बनाया गया वह अन्तत: साहित्य के सामाजिक प्रयोजनों और दायित्वों को त्याग कर केवल प्रतीकवादी प्रयोगों तक ही सीमित रह गया और साहित्य और समाज के आधारभूत प्रश्नों के प्रति उसकी अभिरूचि एकांगी और आनुषंगिक ही रही। इसके अतिरिक्त प्राचीन अलंकार-ग्रन्थों की परिपाटी का अनुसरण करने वाले आलोचक एक प्रकार से लकीर के फकीर ही बने रहे और उन्होंने आचार्य शुक्ल के समान आधुनिक चेतना और सामाजिक जीवन-वास्तव के अनुकूल उन सिद्धान्तों का नव-संस्कार करने की भी कोई उल्लेखनीय प्रवृत्ति नहीं दिखाई। यहाँ तक कि सत् साहित्य का मूल्यांकन करने वाली 'लोक-मंगल' और 'लोक-रंजन' की शास्त्रीय कसौटियाँ भी उनके निकट मात्र एक रूढ़, अमूर्त्त 'विचार' बनकर रह गईं–

ऐसे काम्य आदर्श न रहीं जो प्रत्येक युग के सामयिक संघर्ष में जनता का हित-साधन करने वाली सजग चेतना का ठोस आधार लेकर बदलते और विकास करते जाते हैं और स्वयं ऐतिहासिक सत्य के सारवाही विचारों का मूर्त्त-सजीव युग-रूप धारण करके साहित्य में मानव-मूल्यों और जन-हितों के संरक्षक बनते हैं।

आज के संघर्षपूर्ण संक्रान्ति युग में हमारे साहित्यिक और सांस्कृतिक जगत् का यह गतिरोध तो हमारी राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगति के मार्ग में और भी बाधा बना हुआ है।

'आलोचना' इस गतिरोध को तोड़ने का संकल्प लेकर जन्मी है।

साहित्य में पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा

'युगवाणी' के एक गीत में कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने माँग की है :

आज मनुज को खोज निकालो!
जाति वर्ण संस्कृति समाज से
मूल व्यक्ति को फिर से चालो!
....
खंड मनुज को फिर से ढालो!

किन्तु यह एक खेदजनक स्थिति है कि प्रेमचन्द के बाद हिन्दी में जिस साहित्य की सृष्टि हुई है-चाहे वह प्रगतिवादियों द्वारा रचा गया हो या प्रतीकवादियों, प्रयोगवादियों, छायावादियों और प्रकृतवादियों द्वारा-उसमें हमारे असंख्य अन्तर्विरोधों से ग्रस्त वर्ग-समाज के संघर्षशील मानव के समग्र व्यक्तित्व का चित्रण नहीं हो पाया है। ऊपर से ये रचनाएँ किसी भी विचार-धारा से अनुप्रेरित क्यों न हों, उनके अन्तर में एक दृष्टि-साम्य तो मिलता ही है कि उनमें 'खंड मनुज को फिर से ढालने' या 'मनुज को खोज निकालने' की प्रवृत्ति और स्पर्धा का अभाव है जो हमारी गुलामी, सामन्ती और पूँजीवदी वर्ग-सम्बन्धों की क्रूरता, अनैतिकता, अन्याय, साम्प्रदायिक द्वेष, अशिक्षा, भुखमरी, चोर बाजारी, महामारी-मनुष्य के व्यक्तित्व को भौतिक और नैतिक अन्धकार में आवेष्टित करके खण्ड-खण्ड, विकृत और विकलांग बनाने वाली वर्तमान जीवन की समस्त आधि-व्याधि, दु:ख-दैन्य, अनिश्चितता और दुर्निवार कठिनाइयों-से पग-पग पर ठोकरें खाकर भी निराश और हताश नहीं है, जो संघर्षों से पराङ्मुख नहीं है, जो युग-पुरुष है, एक 'टाइप' है अर्थात् जो सम और विषम परिस्थितियों में यथार्थ और संभाव्य, व्यष्टि और समष्टि की मार्मिक समन्विति का युगानुरूप जीवन्त प्रतिनिधि है।

प्रतीकवादी या प्रयोगवादी लेखक नए प्रयोगों-नवीनता, उक्ति-वैचित्र्य और मनोवैज्ञानिकता-के नाम पर साहित्य में मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व के पुनर्निर्माण की समस्या को तिलांजलि देकर उसे और भी एकांगी, असामाजिक और विकृत बनाने में दत्तचित्त रहे हैं और उनमें से कुछ अनेक सत्याभासों की आड़ लेकर साहित्यिक प्रतिक्रियावाद को प्रश्रय देते रहे हैं। इसके विपरीत यशपाल और अश्क आदि को छोड़कर अन्य प्रगतिवादी और समाज का यथातथ्य, फोटो-चित्र उपस्थित करनेवाले प्रकृतवादी या तो यथार्थवाद से पथ-भ्रष्ट होकर और अपने को प्रचार-साहित्य की संकीर्ण सीमाओं में बाँधकर सामयिक जीवन-वास्तव को अपने मनचाहे ढंग से ही देखने के आदी रहे हैं या इतिहास की सम्भावनाओं से उसका विच्छेद करके, केवल उसके वर्तमान कुत्सित रूप को ही नि:संग, निष्क्रिय दर्शक की भाँति देखते रहे हैं, अर्थात् जो उसके अंधकार के ही चित्रकार हैं, इतिहास-क्षितिज पर उगते प्रगति-सूर्य की रश्मियों के नहीं। इस प्रकार यह दोनों प्रवृत्तियाँ भी मनुष्य के व्यक्तित्व के एकांगी और विकृत रूप को ही पेश करती आई हैं, उसके सम्पूर्ण, सक्रिय मूर्त वास्तविक रूप को नहीं। निस्सन्देह, साहित्य और संस्कृति को सर्व-जन-सुलभ बनानेवाले उत्पादन-साधनों (फिल्म, रेडियो, प्रेस) के उत्तरोत्तर विकास और हमारी राष्ट्रीय आवश्यकताओं के दबाव से, इस बीच, हमारे देश में साहित्यिक निर्माण में परिमाण-वृद्धि तो अवश्य हुई है, परन्तु महान और स्थायी मूल्य के साहित्य की रचना अपेक्षया बहुत कम हुई है। अन्य क्षेत्रों की ही तरह कला-साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में भी उसके प्रचार-साधनों के संचालकों का उद्देश्य मुनाफा कमाना ही है, जनता को संस्कृत बनाना नहीं, जिससे इस बीच जनता की कलाभिरुचि विकृत और सस्ती हुई है और अपवादों को छोड़कर साहित्य का सामान्य स्तर भी नीचा हुआ है।

ऐसे सर्वव्यापी संकट के समय 'अज्ञेय' की तरह इस ह्रास और गतिरोध को, लेखकों के सरकारी नौकरियों में चले जाने या राजनीतिक पार्टियों और विचार-धाराओं से सम्बद्ध हो जाने के कारण बताकर हम एक आलोचक के दायित्व से छुटकारा नहीं पा लेना चाहते। हमारे देश की ऐतिहासिक परिस्थितियों का यह स्वाभाविक परिणाम है कि हमारी राष्ट्रीय भाषाओं के अनेक लेखक और विद्वान् सरकारी और अर्ध-सरकारी विभागों में लगेंगे ही, और जब तक भारतीय जनवादी क्रान्ति पूर्णत: सफल नहीं हो जाती, उस समय तक और उसके बाद भी, हमारे अधिकांश लेखक विभिन्न राजनीतिक विचार-धाराओं में से किसी-न-किसी को अपनाते ही जाएँगे, क्योंकि हमारे साहित्यकार 'त्रिशंकु' के वंशज नहीं हैं-सामाजिक प्राणी हैं, सामाजिक जीवन के संघर्ष और पुनर्निर्माण के कार्य से तटस्थ 'कला के लिए कला' वादी नहीं हैं और सामाजिक दायित्वों को ठुकराकर व्यक्ति की काल्पनिक 'स्वतंत्रता' की घोषणा करनेवाली अहम्मन्यता भी उनमें नहीं है। प्रतिभाएँ अगर मर रही हैं या नई प्रतिभाएँ जन्म नहीं ले रहीं तो इसका कारण केवल लेखकों का 'सरकारीकरण' या राजनीति में उनकी सक्रिय रुचि नहीं है। प्रतिभाओं का गला घोंटनेवाले कारणों को समझने के लिए वर्ग-समाज की क्रूर वास्तविकता की सजग जाँच करनी चाहिए, जिसमें रहकर और जिसके विरुद्ध अविराम संघर्ष करके ही प्रतिभाएँ आज तक उभरी हैं। सरकारी नौकरी में दाखिल होते ही एक ईमानदार और वस्तुनिष्ठ कलाकार के लिए इस संघर्ष का अंत नहीं हो जाता (कठिनतर

चाहे हो जाए)। और राजनीतिक चेतना तो उसे कहीं भी रहकर संघर्ष के लिए नया मनोबल और प्रेरणा ही दे सकती है।

इसी प्रकार शचीरानी गुर्टू की तरह आत्म-प्रवंचना में पड़कर विश्व-साहित्य के अनेक निर्माताओं-जैसे ब्राउनिंग, शैली, राबर्ट बर्न्स, क्रिस्टिना रोजेटी, चेखव, मेरीडिथ आदि-का वर्तमान हिन्दी लेखकों के रूप में एक साथ और एक ही समय 'पुनर्जन्म' कराके हम एक आलोचक के दायित्व से छुटकारा नहीं पा लेना चाहते। क्योंकि हकीकत यह है कि इस समय विश्वजनीन प्रतिभाओं की बात तो दूर; पन्त, निराला, यशपाल और राहुल के अतिरिक्त हमारे साहित्य में ऐसी रचनाशील प्रतिभाएँ भी विरल ही हैं जिनका कृतित्व उर्दू, बंगाली, तमिल, तेलुगु, गुजराती, मराठी-हमारे देश की अन्य प्रमुख भाषाओं के श्रेष्ठ लेखकों और कवियों के बराबर हों। जो प्रतिभाएँ अखिल भारतीय महत्ता पा गई हों, अर्थात् जिनकी रचनाओं के अन्य भाषाओं में केवल अनुवाद ही न हुए हों, बल्कि जिन्होंने रवींद्रनाथ ठाकुर, शरच्चंद्र, इकबाल और प्रेमचंद की तरह देश की अन्यान्य भाषाओं के साहित्यों को समग्र रूप से प्रभावित किया हो, और उनमें नई साहित्यिक प्रवृत्तियों और प्रतिभाओं को जगाकर उन्हें अपनी प्रांतीय सीमाओं से बाहर निकलने की प्रेरणा दी हो।

'अज्ञेय' की तरह हम निराश नहीं हैं, न संशय और भ्रम के बीज बोने के पक्ष में हैं, और न ही लेखकों को समाज के 'त्रिशंकु' बन जाने के लिए प्रोत्साहन देने के हक में हैं। यह साहित्यिक प्रतिक्रिया का मार्ग है।

साथ ही, हम शचीरानी गुर्टू की तरह शिशु-सुलभ विस्मय-भावना से प्रत्येक लेखक को विश्व के किसी-न-किसी महान् साहित्यकार का 'अवतारी' मानकर साहित्य के वर्तमान संकट और गतिरोध से आँख मींच लेने के पक्ष में नहीं हैं। यह आत्म-प्रवंचना का मार्ग है।

हिंदी-साहित्य में इस समय जो भी रचनाकार हैं या पैदा हो रहे हैं-वे जीविकोपार्जन के लिए चाहे जहाँ काम करते हों और चाहे जिस जनवादी विचारधारा या साहित्यिक आदर्श को माननेवाले हों, उनकी प्रतिभा चाहे जिस कोटि की हो-वही तो हमारे साहित्य की पूँजी हैं-हमारे साहित्य की आशा हैं। मुख्यत: उन्हें ही उन तमाम अवरोधों से लड़ते जाना है जो उनकी प्रतिभा को बेड़ियाँ पहनाते हैं। और साथ ही, उन्हें ही साहित्य में जीवन के वस्तु-सत्य को मूर्त, सम्पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित करने और मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण करने के लिए भगीरथ प्रयत्न करना है-तभी हमारा साहित्य अपनी वर्तमान संकीर्ण सीमाओं को तोड़कर एक विपुल शक्ति बन सकेगा। एक आलोचक की हैसियत से हम अपनी भाषा के सामयिक साहित्य का सही-सही मूल्यांकन करके, उसके स्थायी और अस्थायी मूल्यों और उसके सामाजिक उपलक्ष्यों का विवेचन करने तक ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं मानते, बल्कि हम अपने साहित्यकारों में ऐसा मुक्तिकामी और मानववादी संकल्प जगाना भी अपना कर्तव्य समझते हैं जिससे वह अपनी व्यक्तिगत अक्षमताओं और समाजगत कठिनाइयों के बावजूद उस भगीरथ प्रयत्न में ईमानदारी से लग सकें जिसका जिक्र हमने ऊपर किया है। इस पुनीत कार्य में हम उनके सखा और सहयोगी बनना चाहते हैं।

और इसीलिए आज हम विश्व साहित्य के अध्ययन का प्रश्न विशेष रूप से उठा रहे हैं। विश्व-साहित्य से हमारा तात्पर्य उन महान लेखकों की महाकृतियों (क्लासिक्स) से है जो चाहे जिस देश और काल की पैदावार क्यों न हों, पर जो आज भी अपना मूल्य रखती हैं और सदा अमर रहेंगी और चिरकाल तक मनुष्य जाति को अनुप्राणित करती जाएँगी।

इसमें संदेह नहीं कि एक आलोचक की हैसियत से हमें इस सम्बन्ध में उठनेवाले अनेक प्रश्नों का वैज्ञानिक उत्तर देना है। प्रत्येक देश की जनता को विश्व के अन्यान्य देशों का प्राचीन साहित्य एक सामान्य विरासत के रूप में मिला है। ये महान कृतियाँ उन विचारों पर आधारित हैं और उन वर्गों के प्रतिनिधियों ने उनकी सृष्टि की है जो या तो समाप्त हो गए हैं या जिन्हें हम अपने देश में समाप्त करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। उनकी कृतियाँ आज भी जनता को सचेतन और जागृत बनाने के लिए क्यों मूल्यवान हैं? वह क्यों आज भी हमारे साहित्य की प्रेरणा बनती हैं? वह क्यों आज भी हमारे संकल्प को बल देती हैं, हमारी सौंदर्यभावना का परिष्कार करती हैं, उसे गहरा और मानवीय बनाती हैं? वह क्यों हमारी संवेदनशीलता को उभारती हैं और हमारी जिज्ञासा और विवेक को जगाती हैं? उनका साहित्य क्यों सही अर्थों में जनसाहित्य है? वह क्यों हमें आज भी आनन्द देती हैं और आगे चलकर एक वर्गहीन समाज में भी पाठकों को आनन्द देंगी?

संक्षेप में इन प्रश्नों का उत्तर देकर ही हम अपने लेखकों और पाठकों के सामने विश्व-साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता का पूरा अहसास करा सकते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि महान लेखकों की रचनाओं में अपने-अपने काल की सामाजिक विचार-धाराएँ व्यक्त हुई हैं और उनकी कृतियाँ अपने समय के ऐतिहासिक वास्तव से पूर्णत: सम्बद्ध हैं। लेकिन इन महान लेखकों को किसी शोषक वर्ग के खूँटे से बाँधकर जाँचना व्यर्थ होगा, क्योंकि उनकी रचनाओं में अपने समय का समग्र जीवन, तमाम वर्गों के अन्त:सम्बन्ध प्रतिबिम्बित हुए हैं और इस प्रकार उस युग की मूल समस्याओं का उद्घाटन हुआ है। इसी कारण उनकी रचनाओं में शोषण-दोहन की विचार-धाराओं के प्रति गहरे प्रतिवाद की मुखर ध्वनि है और आजादी और समानता की विचारधारा के प्रति गहरा मोह है। महान लेखक यथार्थवादी और अपने समय के आलोचक थे। वस्तुत: वह अपने काल के वर्ग-समाज के विद्रोही थे। इसलिए महान लेखक चाहे जिस काल में और चाहे जिस वर्ग में पैदा हुए हों, वह मूलत: मानववादी थे। उनकी महानता का यही रहस्य है कि उन्होंने 'मनुष्य' को ही प्रमाण और प्रतिमान

माना, जिससे उनकी सहानुभूतियाँ मानव-मात्र तक प्रसारित हुईं-विश्वजनीन बनीं। आज जब वर्ग-समाज का अभिशाप इतना बढ़ गया है कि विराट् नरमेधों के आयोजन से शोषक-वर्ग का मुनाफा सौगुना बढ़ता है, जब जनता की मुसीबतों से उसकी तिजोरियाँ भरती हैं और जनता के रोदन-चीत्कार से समाज के इन कापालिकों का अट्टहास जगता है-ऐसे समय स्वयं मनुष्य का अध्ययन करना और उसके प्रति आदर-सम्मान का भाव जगाना एक महती आवश्यकता बन गया है। मनुष्य की नैतिक और शारीरिक सुन्दरता और विशिष्टता को और अन्य लोगों के साथ परस्पर सहयोग करते रहने की आवश्यकता को स्वीकार किए बिना आज कोई भी समाज-व्यवस्था प्रगतिशील और जनवादी होने का दावा नहीं कर सकती। शोषण-दोहन, ऊँच-नीच और हत्या-कांडों पर जीवित रहनेवाली व्यवस्था अवश्य ही स्थायी नहीं हो सकती। साहित्य की प्राचीन महाकृतियों का यह सबसे बड़ा सन्देश है कि उनमें मानव की प्रतिष्ठा है।

और महाकृतियों के पात्रों के रूप में प्रतिष्ठित मानव खंडित व्यक्तित्व के एकांगी और विकृत मानव नहीं हैं। महाभारत के पात्रों के बारे में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है : ''मूल कथानक में जितने भी चरित्र हैं वे अपने आप में ही पूर्ण हैं। भीष्म-जैसा तेजस्वी और ज्ञानी, कर्ण-जैसा गम्भीर और वदान्य, द्रोण-जैसा योद्धा, बलराम-जैसा फक्कड़, कुन्ती और द्रौपदी-जैसी तेजोदृप्त नारियाँ, गांधारी-जैसी पति-परायणा, श्रीकृष्ण-जैसा उपस्थित-बुद्धि और गम्भीर तत्वदर्शी, युधिष्ठिर-जैसा सत्य-परायण, भीम-जैसा मस्तमौला, अर्जुन-जैसा वीर, विदुर-जैसा नीतिज्ञ चरित्र अन्यत्र दुर्लभ है।'' और आगे, ''महाभारत का अदना-से-अदना चरित्र भी डरना नहीं जानता। किसी के चेहरे पर कभी शिकन नहीं पड़ने पाती। पाठक महाभारत पढ़ते समय एक जादू भरे अरण्य में प्रवेश करता है, जहाँ पग-पग पर विपत्ति है, पर भय नहीं है; जहाँ जीवन की चेष्टाएँ बार-बार असफलता की चट्टान से टकराकर चूर-चूर हो जाती हैं, पर चेष्टा करने वाला हतोत्साह नहीं होता; गलती करने वाला अपनी गलती पर गर्व करता है, प्रेम करने वाला अपने प्रेम पर अभिमान करता है और घृणा करनेवाला अपनी घृणा का खुलकर प्रदर्शन करता है। वहाँ सरलता है, दर्प है, तेज है, वीर्य है, महाभारत की नारी अपने नारीत्व का अभिमान करती है, पुरुष इस अभिमान की रक्षा के लिए अपने को मृत्यु के हाथ सौंप देता है।....''[1]

यही बात अन्य भारतीय और इतर भारतीय साहित्यों की महाकृतियों से सिद्ध है कि उनके अदना-से-अदना पात्र (हीरो) दुर्दमनीय साहस से जीवन की विषमताओं और विफलताओं का सामना करते हैं, अविचलित रहकर जीवन के समरांगण में जूझते जाते हैं, विपत्तियों को झेलते हैं, अपने बुद्धि-विवेक और बल से मार्ग की दुर्गम कठिनाइयों को पार करते हुए अपने लक्ष्य तक पहुँचते हैं। उनकी इस अक्षय जीवट और वीरत्व भावना से हमें आज के कुंठापूर्ण जीवन में एक नई चेतना, नया आत्म-बल और नया ढांढस मिलता है कि प्राचीन युगों में न्याय और नैतिक आदर्शों की स्थापना के लिए उन्हें जितने भयंकर तूफानों के बीच से गुजरना पड़ा था और जितनी वीरता दिखानी पड़ी थी, आज हमें सर्वदा के लिए शोषक-समाज की काल-रात्रि से बाहर निकलकर एक सच्चा मानवीय समाज स्थापित करने के लिए उससे कहीं ज्यादा भयानक तूफानों के बीच से गुजरना पड़ेगा और उनसे अधिक वीरता दिखानी होगी। इसके साथ ही इन संघर्षों में मनुष्य ने जिन नैतिक आदर्शों और मानव-मूल्यों की स्थापना की है, वह जीवन की अंततः विजय और प्रगतिशीलता में हमारी आस्था उत्पन्न करते हैं। मानव-जाति की जरूरतों और हितों की उपेक्षा करके स्वार्थवश सत्ता प्राप्त करने की चेष्टाएँ सामाजिक जीवन के स्खलन और ह्रास का कारण बनती हैं। मनुष्यों और देवताओं का असम्मान करने से सामाजिक जीवन विच्छिन्न होता है। बड़े-बड़े साम्राज्य और फलती-फूलती सभ्यताएँ नष्ट हो जाती हैं, यदि समाज के हित का तिरस्कार किया जाता है। यही पाप होता है। विश्व-साहित्य की महाकृतियों की यह सबसे महत्वपूर्ण शिक्षा है, जो मानवता को आगे बढ़ने के लिए सतत उकसाती रहती है।

और फिर, विश्व-साहित्य की महाकृतियाँ हमारे भीतर मनुष्य-जीवन की ऐतिहासिक परम्परा की अनुभूति कराती हैं। सीता के विलाप, भरत के क्षोभ, लक्ष्मण के क्रोध का प्रसंग पढ़कर हमारे मन में जब वैसी ही सहजानुभूति और उद्वेलन होता है, जब हमें यह प्रतीत होता है कि आज हम जो-कुछ अनुभव करते हैं, ऐसे ही अवसरों पर प्राचीन काल में अन्य लोगों ने भी अनुभव किया था, और उनका वह अनुभव विलक्षण सौन्दर्य और सूक्ष्म-भेदी सच्चाई के शब्दों में सर्वदा के लिए विजड़ित कर दिया गया है, तो हमें लगता है कि यह हमारी सबसे अधिक मूल्यवान सम्पत्ति है जो मनुष्य के ऐतिहासिक अतीत के साथ हमारी एकता और सम्बन्ध-सूत्रता का भाव जगाकर हमें सौन्दर्यानुभूति कराती है। विश्व हमें अपने वर्तमान गोचर जगत से कहीं अधिक विशालतर लगने लगता है, साथ ही हम इस युगानुयुगीन विश्व के साथ अत्यधिक सामीप्य का भी अनुभव करते हैं। प्राचीन साहित्य इस प्रकार हमें अपने जीवन की क्षुद्रताओं और संकीर्णताओं से ऊपर उठने में सहायक होता है। और देश-काल की सीमाओं को तोड़कर हमें मनुष्य के समूचे विकास-क्रम की व्यापक धारा का साक्षात्कार कराता है।

ये कतिपय मानव-मूल्य हैं जो हमें विश्व-साहित्य की महान कृतियों के अध्ययन से सहज ही प्राप्त होते हैं, ये कृतियाँ आज हमारी जनता में इस विश्व-संकट के समय शान्ति, आजादी और जनवाद के संघर्ष में अंततः विजयी होने का विश्वास जगा सकती हैं, और हमारे साहित्यकारों को पूर्ण मानव-चरित्रों की सृष्टि करने में योग दे सकती हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि विश्व की महान कृतियों ने मनुष्यों के दिमागों को गुलाम नहीं बनाया, उन्हें नया उत्साह और नई प्रेरणाएँ ही दी हैं, क्योंकि महान कलाकार और उनकी कृतियाँ मूलतः क्रांतिकारी होती हैं, विज्ञान

की ही तरह कला भी मनुष्य की स्वतंत्रता का अस्त्र है, विश्व-विख्यात मार्क्सवादी आलोचक जार्ज लूकाच के शब्दों में, अतीत के महान लेखकों ने ''मानवीय विकास के महान युगों के सर्वांगीण और समुचित चित्र हमें दिए हैं और साथ ही वह आज मनुष्य के अखंडित व्यक्तित्व की पुनर्स्थापना करने के विचार-संघर्ष में हमारे लिए आलोक-दीप का भी काम देते हैं।'' इसलिए यदि हमारे साहित्यकार अपने युग की चेतना लेकर विश्व के महान लेखकों की अनुपम कृतियों से सीखेंगे तो निश्चय ही वह आज के जीवन-वास्तव का अधिक व्यापक और मूर्त चित्रण कर पाएँगे और आए दिन के साहित्यिक फैशनों से अभिभूत होकर पथ-भ्रष्ट न होंगे।

अगर हम अपने समय की समस्याओं को हल करने में असफल रहे तो सम्भव है कि इस बार हम ही नहीं, बल्कि महा-युद्ध की लपटों में विश्व-मानवता द्वारा अपने रक्त-स्वेद से बनाई हर चीज भस्म हो जाएगी। महाभारत के इतिहास की विश्व-व्यापी पुनरावृत्ति समग्र मानव-जीवन, सभ्यता और संस्कृति के लिए भयंकर होगी। साहित्य की प्राचीन महाकृतियाँ जहाँ हमारा मनोरंजन करती हैं, हमारी चेतना का सीमा-विस्तार करती हैं, हमारी मानवता का विकास करती हैं, वहाँ वह हमारे अंदर केवल यह भाव ही नहीं जगातीं कि मानव-मात्र एक हैं और उनका इतिहास देश-काल की अनेकरूपता के होते हुए भी प्रगतिपथ पर एकोन्मुख है, बल्कि वह हमारे अन्दर कर्म की प्रेरणा भी जगाती हैं ताकि हम अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर संघर्ष-क्षेत्र में कूद पड़ें और समय रहते हुए प्रतिक्रियावादी शक्तियों को विश्व की शान्ति भंग करने से रोक दें, ताकि हम, आप, संसार के सभी मनुष्य जीवित रह सकें, और अपनी बुद्धि और अपने श्रम से एक स्वतंत्र, जनवादी समाज का निर्माण कर सकें। साहित्य में पूर्ण-मानव की प्रतिष्ठा का संघर्ष एक व्यापक जन-संघर्ष का ही महत्वपूर्ण अंग है।

(आलोचना, प्रवेशांक, अक्टूबर 1951, का संपादकीय साभार)

ने प थ्य

eSa Lusiksyk dkvwpkn D;ksa fd;k\

nsjsnk jhjdsgh

अपनी युवावस्था में, सम्भवत: 1952-53 में, मैंने हिंदीतर साहित्य के दो उपन्यास यके-बाद-दीगरे पढ़े थे। एक था इरविंग स्टोन का 'लस्ट फार लाइफ' तथा दूसरा था एमील जोला का 'नाना'।

इरविंग स्टोन के उपन्यास 'लस्ट फॉर लाइफ' में डच कलाकार वॉन गॉग मुफलिसी के दिनों में वेश्या के संग रहता है। 'नाना' में पंद्रह बरस की कमसिन लड़की वेश्या का धंधा अपनाने को विवश थी और अंतत: विकट परिस्थितियों में मरी थी और बिस्तर पर पड़ी उसकी सड़ी-गली देह पीव-मवाद और खून की ढेरी लगती थी। मैं अपनी अपरिपक्व अवस्था में भी अनायास ही इन दोनों स्त्रियों की तुलना कर बैठा था। हालांकि वे समाज की अवहेलना और उच्च वर्ग की अय्याशी की शिकार थीं, फिर भी, 'लस्ट फार लाइफ' की वेश्या से मुझे सहानुभूति और 'नाना' की कमसिन वेश्या से वितृष्णा हुई थी। फिर कहीं मदाम बोवारी के लेखक फ्लौबर की यह उक्ति पढ़ी थी : नाना तुरने ओमिथ सां सेसे देत्र रेएल, अर्थात् नाना वास्तविक होते हुए भी मिथ बनकर रह गई है।

यह छाप मुझ पर बरसों बनी रही। शायद यही कारण था कि जोला की किसी अन्य रचना के बारे में जानने या पढ़ने की कोई लालसा फिर नहीं हुई थी। आज से चौदह-पंद्रह बरस पहले, संभवत: 1990-91 में, और 'नाना' पढ़ने के पैंतीस-चालीस साल बाद मुझे सेल के लिए रखी किताबों के ढेर में जोला का जर्मिनल उपन्यास दिखाई पड़ा था। इसका चौथा कवर बताता था कि जोला की इस 'सबसे प्रतिनिधि' रचना में फ्रांस में किसी कोयला-खान में हुई भयावह दुर्घटना की कहानी थी। किताब पैपरबैक संस्करण में थी और बारीक टाइप में छपी थी; दूसरे, यह उपन्यास 'रूजो-मकार' नामक उपन्यास-शृंखला की एक कड़ी थी जिसमें जोला ने एक परिवार के आनुवंशिक अध्ययन के ब्याज से फ्रांस के जनजीवन का चित्रण करने के निमित्त बीस-इक्कीस उपन्यास लिखने की योजना बनाई थी। मुझमें शृंखलाबद्ध उपन्यास पढ़ने का धैर्य नहीं है (हाँ, लड़कपन में जरूर सुल्ताना डाकू की कारगुजारियों के पता नहीं कितने खंड चोरी-छिपे पढ़े थे)। यही कारण है कि क्वार्टेट का पहला खंड पढ़कर बाकी खंडों को मैंने आज तक हाथ नहीं लगाया। चंद्रकांता और चंद्रकांता-संतति का सेट खरीद रखा है, लेकिन उन्हें पढ़ने की सकत मैं आज तक जुटा नहीं पाया हूँ।

फिर भी, जोला का यह उपन्यास चूँकि मिट्टी के मोल मिल रहा था, मैंने उसे खरीद तो लिया था, लेकिन दीर्घकाल तक यह मेरी स्टडी की अलमारियों में उसी तरह पड़ा रहा था जिस तरह अनेक पढ़ी-अधपढ़ी किताबें रखी रहती थीं। कभी खाबो-ख़याल

में भी नहीं आया था कि एक दिन मैं साढ़े चार सौ पृष्ठों के इस भारी-भरकम उपन्यास को मनोयोग से पढ़ूँगा ही नहीं, बल्कि निष्ठापूर्वक इसका अनुवाद भी करूँगा।

मुझे आज भी लिखने-पढ़ने के साथ बीच-बीच में अनुवाद करने का व्यसन है। यह काम मैं ऊपरी आमदनी के लिए नहीं करता। भुक्तभोगी जानते हैं कि अनुवाद-कार्य कमाई का जरिया नहीं है। वास्तव में, श्रेष्ठ रचनाओं का अनुवाद करते हुए जितना मानसिक और शारीरिक संघर्ष करना पड़ता है और जितना समय देना पड़ता है, उसके एवज में जितनी उजरत मिलती है, उससे अधिक नहीं, तो लगभग उतनी ही रकम आजकल उस रचना की कम्प्यूटर कॉपी तैयार करने वाला ले जाता है जो पंद्रह से बीस रुपये प्रति पेज का तकाजा करता है। अब जब मेरे जैसा आदमी अपने लेखन की तरह अपने अनुवाद में भी बार-बार संशोधन करके प्रकाशक को साफ-सुथरी प्रेस कॉपी देने का आग्रह करता है, तो इस हिसाब से उसके पल्ले क्या पड़ता होगा?

लेकिन जर्मिनल को पढ़ने और उसका अनुवाद करने के पीछे सर्वथा भिन्न कारण थे। जिस रचना की मैंने इतने बरसों तक उपेक्षा की थी, एकाएक क्योंकर उसे तन्मय होकर पढ़ना शुरू किया, और फिर पढ़ते-पढ़ते ही उसका अनुवाद करने का भी बीड़ा उठाया?

मैंने देखा कि बीसवीं सदी के अंत में भी हमारे देश की कोयला-खदानों के बाहर-भीतर की स्थितियाँ वैसी ही भयावह थीं, जैसी कि अठारहवीं सदी में फ्रांस की कोयला-खानों की थीं और जिसका रोंगटे खड़े कर देने वाला विश्वसनीय वर्णन जोला ने जर्मिनल में किया था। 'लेडी चैटरलीज लवर' के लेखक डी.एच. लारेंस की कोयला-खानों पर लिखी किसी रचना का मुझे फीका-सा आभास जरूर था। लेकिन अचरज होता था कि हमारे देश के कोयलांचलों में इतनी भयावह दुर्घटनाएँ होती रहती थीं, लेकिन मेरी जानकारी में अभी तक न तो किसी हिंदी लेखक ने और न ही अंग्रेजी में लिखने वाले किसी भारतीय लेखक ने इस त्रासद स्थिति पर कोई रचना की थी। उर्दू में इलियास अहमद गद्दी का 'फायर एरिया' नामक लघु उपन्यास मुझे जरूर मिला जिसका हिन्दी अनुवाद राशिद अल्वी ने किया था। लेकिन इसे पढ़कर ऐसा नहीं लगा कि लेखक ने कोयला-खानों में उतरकर वहाँ के हालात का जायजा लिया हो, जिस तरह जोला ने ल वोरअ नामक कोयला-खान में उतरकर इतना हृदयग्राही वर्णन किया था। यह सब दिखाने के लिए मैंने जर्मिनल का अनुवाद करने का फैसला किया।

जर्मिनल की सबसे बड़ी विशेषता मुझे यह लगी थी कि जोला स्वयं कोयला-खानों में उतर कर गया होगा और मजदूरों की बस्ती के परिवारों के बीच रहकर उसने उनके सुख-दुख को अति निकट से देखा-परखा होगा। मुझे लगता था कि उपन्यास में इक्कीस बरस का एतियन नामक मुख्य पात्र और कोई नहीं जोला ही था, जो माहद नामक मजदूर के परिवार के साथ रहता-सहता रहा था। बाद में कहीं पढ़ने को मिला कि जोला ने, सचमुच, कोयला-खानों के भीतर उतरकर निकट से मजदूरों के कष्टों को देखकर यह उपन्यास लिखा था, नहीं तो मात्र कल्पना के सहारे कोई लेखक इतना सजीव चित्रण उन विकट परिस्थितियों में कैसे कर सकता है। इसके कुछ उदाहरण लीजिए।

ल वोरअ कोयला-खान में दो रोटी की खातिर मजदूर और उनकी स्त्रियाँ, उनकी कमसिन बेटियाँ और उनके नाबालिग बच्चे किस तरह अपनी जान जोखिम में डालकर काम करते हैं :

''कोयले की कटाई करने वाले चारों आदमी सुरंग के ढालू मोहरे पर एकदम पसरे पड़े थे। उनके मध्य फट्टे थे जिनकी बदौलत ढीला पड़ जाने वाला कोयला नीचे गिर नहीं पाता था। प्रत्येक व्यक्ति ने दरार की पंद्रह-पंद्रह फुट जगह घेर रखी थी जो इतनी संकरी थी, मुश्किल से बीसेक इंच की होगी इस स्थल पर-कि मजदूर लोग छत और दीवार के बीच एकदम भिंच जाते थे और उन्हें घुटनों और कोहनियों के बल घिसट-घिसट कर काम करना पड़ता था। हिलना-डुलना तक दुश्वार हो जाता था। जरा हिले नहीं कि कंधे छिले नहीं। कोयला काटने के लिए करवट के बल लेटना पड़ता था। गेंती भी छोटे दस्ते की चलाते, तो गर्दन मोड़कर और बाँह उठाकर एक कोण से।'' (पृ. 75)

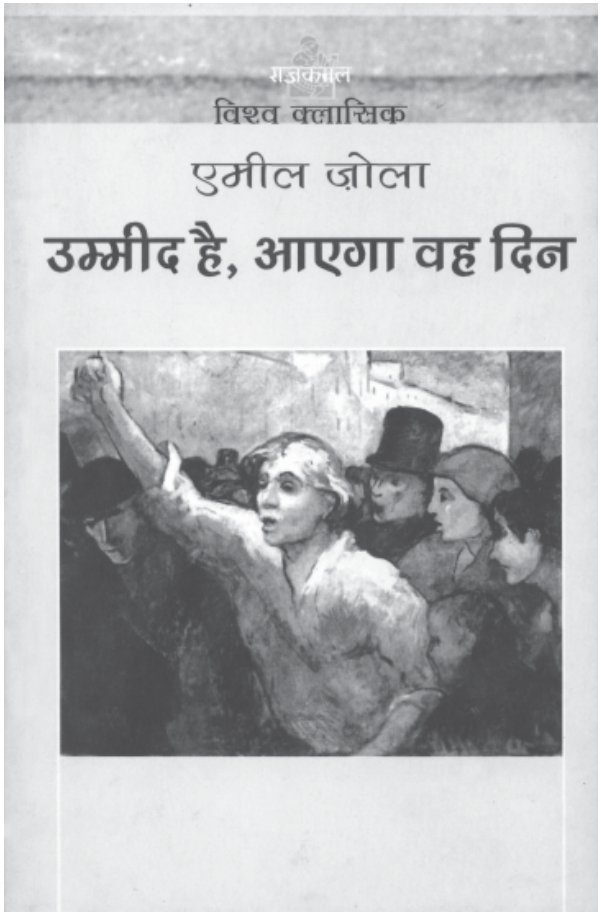

इससे भी भयावह स्थिति तब उपस्थित होती है जब कोयला-खान में पानी भर जाने से मजदूरों और घोड़ों की जान पर बन आती है :

''कोयला खान के इस चबूतरे की तलहटी में फँसे असहाय लोग दहशत के मारे चीखने-चिल्लाने लगे थे। अब पानी इनकी कमर तक आ गया था। प्रचंड धारा के कोलाहल ने इन्हें सुन्न करके रख दिया था और

खोल के आखिरी हिस्सों को ढहते देख इन्हें लगने लगा था कि अंत निकट है। मगर जिस डर के मारे वे उन्मत्त हो उठे थे, वह था अस्तबल में बंद घोड़ों का हिनहिनाना– लगता था, जैसे जबह होते जानवर की भयावह और मरणांतक बिलबिलाहट हो। मूक ने बाताई घोड़े को खोल दिया था। यह बूढ़ा घोड़ा खड़ाखड़ा थर्रा रहा था और बढ़ते पानी को फटी-फटी आँखों से निहारे जा रहा था। लदान वाला चबूतरा द्रुत वेग से भरता जा रहा था और मेहराब के नीचे जलते तीनों लैंपों की लाली में घोड़े हरिताभ-से जल को बढ़ते हुए एकटक देखे जा रहे थे। तभी एकाएक बाताई की त्वचा को जब बर्फीले पानी का स्पर्श हुआ, तो वह उन्मत्त होकर सरपट भागा और ढुलाई वाले गलियारे में कूदकर अदृश्य हो गया। जब यह जानवर इस तरह भागा, तो मनुष्य कैसे पीछे रहते। वे भी भाग खड़े हुए।'' (पृ. 466)

कोयला-खान में जब पानी भरने लगता है और बचाव का कोई रास्ता नहीं मिलता, तब भी कैथरीन और एतियन किस तरह अपनी जान बचाने की कोशिश करते हैं :

''एतियन ने लैंप की कंटिया ली और उससे शिला को ताबड़तोड़ खुरचना शुरू किया और फिर कैथरीन भी नाखूनों से उसके साथ जुट गई। इस तरह उन्होंने छोटे-से आले जैसी जगह बना ली और वहाँ चढ़कर टांगें नीचे लटकाईं और उकड़ूं होकर बैठ गए, क्योंकि सिर उठाकर बैठने की जगह थी ही नहीं। पानी से एड़ियाँ सुन्न होती जा रही थीं। लेकिन पानी था कि निष्ठुरता से और तीव्र गति से बढ़ता ही आ रहा था और ठिठुरन टखनों में, फिर पिंडलियों में और फिर घुटनों में भी होने लगी थी। आले में बैठने की जगह हमवार नहीं थी और फिर गीली और फिसलनी भी....इस तरह कितनी देर तक टिके रह सकते थे उस ताक पर जहाँ हिल-डुल भी नहीं सकते थे।'' (पृ. 477)

फिर विडम्बना यह कि कोयला काटने वाले मनुष्यों से बेहतर स्थिति कोयला-खान के भीतर छकड़े खींचने वाले टट्टुओं और घोड़ों की है। वहाँ का अस्तबल अस्सी फुट लम्बा और पंद्रह फुट चौड़ा है। नीचे पुआल बिछी रहती है। जगह इतनी निरापद और सुखकर थी कि कोयला-खान में काम करने वाला एक जोड़ा चोरी-छिपे वहाँ आकर पड़ा रहता था।

इस उपन्यास की एक विशिष्टता मुझे यह लगी थी कि यदि इसके पात्रों और स्थलों के नामों का भारतीयकरण कर दिया जाए, तो आम पाठक को पता ही नहीं चलेगा कि यह अनूदित रचना है। उपन्यास के पहले पन्ने से ही इस बात का अहसास होने लगता है। इक्कीस बरस का बेरोजगार युवक एतियन रात के भयावह सन्नाटे और सर्दी में ठिठुरते हुए भटक रहा है। एतियन की देह पर पतली मिरजई और गाढ़े की पतलून है और हाथ में चारखाना अंगोछे की पोटली। हाथों को जेबों में डालकर गर्माने की चेष्टा में वह पोटली को कभी इस बगल में, कभी उस बगल में दबोचते हुए चलता है। यहाँ अगर 'एतियन' की जगह 'सरयू भुइयां' नाम रख दिया जाए, तो शायद किसी को संदेह ही नहीं होगा कि यह कहानी बिहार-झारखंड कोयलांचल की नहीं है।

एक स्थल पर तो अनायास ही मुझे रेणु की कहानी 'तीसरी कसम' की याद हो आई थी। जिस तरह हीरामन अपने बैलों को कनरस के लिए प्यार से डपटता है, लगभग इसी तरह जर्मिनल के आरम्भ में माह्द का बूढ़ा बाप बोनमोर्त टट्टू को छकड़े में जोतते हुए उससे बतियाता है :''काहिल कहीं के! निकम्मे! इतना कनरस ठीक नहीं। मोस्यों हेनबो ने देख लिया कि तू इस तरह वक्त बरबाद करता है, तो....

यही नहीं, कोयला-खान में काम करने वाले मजदूरों और उनके परिवार के सदस्यों की दुर्दशा का चित्रण जिस तरह किया गया है, उसे पढ़कर लगने लगता है कि ज़रूर ही ज़ोला भारत आया होगा और यहाँ के खान-मज़दूरों के जीवन को निकट से देखा होगा।

कहानी मुख्यत: मोंसू गांव में रहने वाले और ल वोरअ कोयला-खान में काम करने वाले माह्द परिवार के इर्दगिर्द घूमती है। इस परिवार में ग्यारह प्राणी हैं। इनमें माह्द का बाप बोनमोर्त भी है जिसने इस खान में सात बरस की उम्र में काम करना शुरू किया था। नन्हें बच्चों को छोड़ कर बाकी सारा परिवार खान में खटता रहता है, फिर भी, वे इतना नहीं पाते कि पेट भर कर खा सकें। उल्टा, फाके करते हुए दिन काटते हैं। एक स्थल पर माह्द की पत्नी पति को बच्चों से छिपा कर कुछ खाने को देती है। माह्द जब देखता है कि उसका भूखा बालक ललचाई आँखों से उसे निहार रहा है, तो हिंदुस्तानी बाप की तरह बालक को गोद में बैठा कर पत्नी के विरोध के बावजूद उसे खिला देता है। लेकिन जब मुफ़लिसी सर चढ़ बोलती है, तो वह तीन मास की बच्ची को मारने पर तुल जाता है। वह भूख से बिलबिलाने लगती है, तो माह्द चिल्ला कर पत्नी को कहता है: ''संभाल इसे! ऐसा न हो मेरे हाथों इसका कपाल फूट जाए.....''

बताने की आवश्यकता नहीं कि ल वोरअ के मज़दूरों की यह दयनीय अवस्था खान मालिकों की लापरवाही और स्वार्थी तत्वों की कारगुज़ारियों के कारण है। क्या हमारे देश में मज़दूर और किसान इसी अवहेलना का शिकार नहीं हैं जो जीवन का बोझ ढोते-ढोते इतना टूट जाता है कि उसे अपने जीवन का अंत करने या अपनी कोख से निकले बच्चों को कौड़ियों के दाम बेचने के अलावा दूसरा रास्ता दिखाई नहीं देता? मुफ़लिसी में आकंठ डूबी मां किस तरह इक्कीसवीं सदी में भी अपनी जवान बेटी को चंद रुपयों के एवज़ में ग़ैरों के हाथ सौंपने को तैयार हो जाती है, इसका प्रमाण टीवी पर दिखाए जाने वाला सीरियल 'अगले जनम मोहे बिटिया ही कीजो' में देख सकते हैं। फिर इसी 17 अप्रैल को पुलिस को एक ऐसे नाबालिग़ बच्चे का पता चला था जिसे उसके बाप ने उसे मात्र हज़ार रुपए में किसी के हाथों बेच डाला था।

फिर ज़ोला ने एक मेग्रे नामक साहूकार-बनिए की कारगुज़ारियों का भी वर्णन किया है जो खदान मज़दूरों की

मजबूरियों का नाजायज़ फायदा उठाते हुए निर्लज्जता से उनका शोषण करता है। मेग्रे हमारे ग्राम-कस्बों में शोषण करने वाले साहूकार-बनिए की हू-ब-हू कॉपी लगता है। मेग्रे ने उसी तरह अपने घर में ही दुकान खोल रखी है, जिस तरह हमारे गाँवों-कस्बों में बनियों की हट्टियाँ होती हैं। खान-मज़दूर उससे उधारी और कर्ज़ लेते रहते हैं। जब कर्ज चुकता नहीं कर पाते, तो विवश होकर लुगाई और बेटी को भी मेग्रे के पास भेज देते हैं। माह्द ने पिछली हड़ताल के दौरान मेग्रे से कर्ज़ लिया था, जिसे वह कभी चुकता नहीं कर पाया। जब दुबारा हड़ताल होती है और सारे परिवार के भूखों मरने की नौबत आ जाती है, तो मेग्रे के चरित्र से अभिज्ञ होते हुए भी माह्द की पत्नी फिर मेग्रे के धौरे जा कर गिड़गिड़ाती है। मेग्रे जानता है कि ला माह्द सात बच्चों की मां है, फिर भी, उसे देख कर उसकी लार टपकने लगती है। ''लगता था उसकी आंखें ला माह्द का चीरहरण कर रही हैं।'' माह्द जब हाथ नहीं धरने देती, तो मेग्रे निर्लज्जतापूर्वक उससे कहता है कि सौदा-सुल्फ़ लेने के लिए अपनी बेटी को भेजा करे। इस पर माह्द हिंदुस्तानी सन्नारी की तरह मेग्रे को श्राप देती है : ''नासपीटे! तेरा सत्यानाश होगा। याद रखना मेरी यह बात!''

और, सचमुच, यही होता है। एक दिन मोंसू गाँव की सारी स्त्रियाँ एकजुट हो कर मेग्रे बनिए की दुकान पर हल्ला बोल देती हैं। मेग्रे भागने की कोशिश में छत से गिर कर मरता है। लेकिन चिरकाल तक मेग्रे की हवस की शिकार ये स्त्रियाँ मृत मेग्रे को नहीं बख़्शतीं। ''कोई ऐसा नृशंसापूर्ण कार्य करना चाहती थीं जिससे उनके कलेजे को ठंडक पहुँचे।'' बस, ला ब्रूले नामक स्त्री उसके निर्जीव पुंसत्व को हाथ से उखाड़ कर विजयोल्लास के साथ अपने सिर पर घुमाती है और फिर उस लोथड़े को लकुटी के सिरे पर टांग कर उसका प्रदर्शनी करती है। यह सब पढ़ कर मुंह का स्वाद थोड़ा ख़राब ज़रूर हो जाता है।

ल वोरअ कोयला-खान में जब दुर्घटना हुई, तो ख़बर लगते ही गांव की औरतों के, बूढ़ों के, बच्चों के झुंड के झुंड दौड़े आते हैं। औरतें बावली हुई जा रही हैं। हाथ जोड़-जोड़ कर अपने आदमियों के बारे में पूछती हैं जो खान के भीतर फँसे हैं। इनमें ला माह्द, ला लवाक, ला पियरोन भी विलाप कर रही हैं। लेकिन उन्हें सांत्वना देना तो दूर, प्रबंधक उन्हें खदेड़ने का हुक्म देते हैं : ''इन्हें चुप रहने को बोलो। इनकी चीख-चिल्लाहट किसी की जान भी ले सकती है....''

कुछ इसी तरह का भयावह दृश्य धनबाद में भाटाडीह की नागदा कोयला-खान के बाहर दिखाई पड़ा था जिसमें विस्फोट के कारण पचासेक मज़दूर दब गए थे। खान के बाहर विलाप करने वालों में गेंदू भुइयां था। बजरंग बेलदार था। उस्मान मोदी था। संतोप रजवार था। सरयू भुइयां था। गेंदू भुइयां की पत्नी ने रो-रो कर बुरा हाल कर दिया था। बजरंग की नवविवाहिता असहाय-सी खड़ी देखे जा रही थी, जैसे काठ मार गया हो। उस्मान मोदी की दो छोटी-छोटी बेटियाँ बिलख रही थीं। संतोप की पत्नी छह मास की बच्ची को गोद में लिये बैठी कुरला रही थी। सरयू भुइयां की नौ साल की बेटी 'बाबू-बाबू' कह कर रोती थी। लेकिन उनका दुख बँटाने कोई नहीं आया।

ल वोरअ में इतनी बड़ी दुर्घटना होती है, लेकिन प्रबंधकों को कोई गति नहीं ब्यापती। उनकी हृदयहीनता को और निर्लज्ज व्यवहार को देखिए। खान का इंजीनियर ग्रेग्वार और मैनेजर मोंस्यो हेनबो अपने परिवार के साथ वहाँ मौजूद हैं। ये लोग खान में फंसे लोगों को निकालने के काम की देखरेख करने नहीं, बल्कि उसी उद्देश्य से आए हैं जिस उद्देश्य से दिल्ली की यमुना नदी में बाढ़ की विभीषिका दिखाने के लिए एक युवक निगमबोध घाट पर अपनी नवविवाहिता को यह नायाब दृश्य दिखाने आया था। मैनेजर हेनबो की पत्नी मदाम हेनबो नीले परिधान में सज-धज कर आई थी। उसके साथ उसकी दो जवान बेटियाँ-ज़न और लूसी-भी आई थीं। ज़न अपना स्केच पैड अपने साथ लाई थी और उल्लसित हो कर जल्दी-जल्दी डूबती खान का रेखांकन करती जा रही थी, मानो ऐसा ''विलक्षण'' दृश्य फिर देखने को न मिले। जब उन्हें चलने को कहा जाता है, ताकि ''दहशत पैदा करने वाले ये नज़ारे देखती रहेंगी, तो रात की नींद हराम हो जाएगी,'' तो ज़न माँ से रुआंसे स्वर में कहती है, ''क्या? इतनी जल्दी! अभी तो मेरा स्केच भी पूरा नहीं हुआ।''

ये सब बातें तो थीं, लेकिन, इससे भी बड़ा उद्देश्य मेरा इस उपन्यास को हिंदी में प्रस्तुत करने का यह था कि मैं यह दिखाना चाहता था कि इस उपन्यास में (अशोक वाजपेयी के शब्दों को उधार ले कर कहूं, तो) ''साहित्यानुराग से अधिक वैचारिक आग्रह'' है। ज़ोला इतना बड़ा लेखक था। इतना बड़ा थीम उसके हाथ लगा था, लेकिन उसने-हालांकि ज़ोला ने तब तक मार्क्स को नहीं पढ़ा था- विचारधारा का पलीता लगा कर अपनी इतनी उत्कृष्ट कृति के प्रभाव को नष्ट किया है।

जर्मिनल में सूवारीन नामक पात्र रूसी युवक है जो अराजकतावादी और क्रांतिकारी है। उसने ज़ार की ट्रेन को उड़ाने की विफल कोशिश की थी। इस षड्यंत्र में उसकी प्रेमिका अनुष्का ने भी उसका साथ दिया था। सूवारीन बच निकला था, लेकिन अनुष्का पकड़ी गई थी और उसे भीड़ के सामने, जिसमें सूवारीन खड़ा देख रहा था, सूली पर चढ़ा दिया गया था।

सूवारीन रूस से भाग कर फ्रांस के इस कोयलांचल में आ कर सक्रिय हो गया था। उसका दर्शन: ''अराजकता, प्रत्येक चीज का अंत, जब सारी दुनिया खून से नहाएगी और अग्नि द्वारा शुद्धि पाएगी।''

सूवारीन सारी दुनिया को एक बार तबाह करने के सपने देखता है, ताकि उसके खंडहरों पर एक नई दुनिया की तामीर की जा सके। इसके लिए वह एतियन जैसे अनपढ़ मज़दूर को अपने चंगुल में फंसाता है जो श्रमिक वर्ग का लीडर बनने तथा अंतत: संसद में जा कर भाषण करने के सपने देखता है। सूवारीन सबसे पहले ल वोरअ कोयला-

खान को अपने शिकार के लिए चुनता है। लेकिन आज के फिदायीनों के लीडरों की तरह अपनी जान पर खेल कर नहीं, बल्कि अपनी जान को बचा कर। एक रात वह चोरी छिपे ल वोरअ कोयला-खान की शाफ्ट के भीतर घुस कर उसके शहतीरों और बल्लियों को इस तरह ढीला कर देता है कि जब कोयला ढोने वाला पिंजरा उसमें उतरेगा, तो शाफ्ट को खुरचता हुआ नीचे जाएगा जिससे शाफ्ट टूटेगी और खान में पानी भर जाएगा। विडंबना यह कि कोयला-खान के मालिकों को इस क्षति का पता चल जाता है, लेकिन ज़्यादा से ज़्यादा कोयला निकालने के लोभ में तत्काल कोई कार्रवाई नहीं करते।

अब हड़ताल के बावजूद भूखों मरते मज़दूर खान में काम करने का फ़ैसला करते हैं। सुबह के झुटपुटे में उनकी लंबी कतार क्षतिग्रस्त कोयला-खान की तरफ जा रही है। सूवारीन सड़क के मोड़ पर खड़ा होकर इन्हें देख रहा है और इन 'कायर' लोगों को उसी तरह ''गिनता जा रहा है, जिस तरह कसाई बूचड़खाने की तरफ जाने वाले पशुओं की गिनती करता है।''

और, सचमुच, जिस तरह बूचड़खाना पशुओं का मरण-स्थल बनता है, उसी तरह ल वोरअ कोयला-खान से पशु-जीवन जीने वाले ये मजदूर जीवित नहीं लौटते। कचरे की ढेरी पर खड़े सूवारीन की आँखों के सामने ल वोरअ कोयला-खान उसी तरह जल-समाधि लेती है, जिस तरह सैलानियों से भरा 'टाइटैनिक' जहाज डूबा था।

यह सब देखकर सूवारीन फूला नहीं समाता। डूबती खान में सैकड़ों मजदूरों के साथ पीछे उनके परिवार भी तबाह हो जाएँगे, यह उसकी चिंता का विषय नहीं है। उसकी चिंता का विषय यह है कि यहाँ अपना ध्येय प्राप्त करके अब वह कहाँ जाएगा? अब वह ''किसी ऐसे स्थल की ओर जाएगा जहाँ शहरों और मनुष्यों के परखच्चे उड़ा देने के लिए डायनामाइट उपलब्ध होगा। कोई दया नहीं, कोई पश्चाताप नहीं। निश्चय ही वह उस दिन उस जगह उपस्थित होगा, जहाँ मरणासन्न बुर्जुआ के एक-एक कदम के नीचे की धरती भक से उड़ती नजर आएगी....'' मानो इस दुनिया में केवल बुर्जुआ ही रहते हैं, इंसान नहीं रहते।

आज भी इस प्रसंग को पढ़ता हूँ, तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मनुष्य इतना निष्ठुर-निर्मम भी हो सकता है। यह दर्शन मार्क्स का नहीं, मानव जाति के संहारक हिटलर और स्तालिन और ईदी अमीन जैसे आततायियों के पैरोकारों का है जिनके सामने आदमी की कीमत तिनके बराबर भी नहीं होती। यहाँ सूवारीन की स्थिति कुछ-कुछ तुर्गनेव के उपन्यास 'फादर्स एंड संज' में किरानसोव जैसी है। किरानसोव बाजारोव से कहता है, '' ....तो तुम हर चीज को तबाह करना चाहते हो, लेकिन निस्संदेह आदमी को निर्माण भी तो करना चाहिए न।'' बाजारोव कहता है, ''यह हमारा काम नहीं है....पहले हमें जमीन साफ करनी होगी।''

कुछ ऐसी ही बात माइकेल बैकुनिन (1814-1876) ने कही थी जो साइबेरिया से भागकर लंदन पहुँचा था : ''पहले सारे के सारे सड़े-गले ढांचे को, पुरानी भ्रष्ट दुनिया को तबाह कर दिया जाना चाहिए। उसके बाद ही उस पर कोई नई चीज खड़ी की जा सकती है.... हम क्रांतिकारी हैं....हमारा काम विनाश करना है।''

कहना न होगा कि जोला ने इतनी मर्माहत कर देने वाली अपनी रचना को विचारधारा के फेर में पड़कर उसी तरह नष्ट किया है, जिस तरह ल वोरअ कोयला-खान को सूवारीन ने नष्ट किया था। नामवर सिंह के शब्दों के हवाले से कहूँ, तो ''जैसे आप किसी वाद के शिकार होते हैं, आपकी दृष्टि एकांगी हो जाती है।'' बांग्ला लेखक शंकर (मणिशंकर मुखर्जी) ने एक इंटरव्यू में कहा था, ''कोई बड़ा लेखक है, तो वह किसी भी विचारधारा को जानने वाला हो, मैं उसके पैर छुऊँगा। पर किसी लेखक को किसी मतवाद का अनुगामी होना ही होगा, यह जरूरी नहीं है....लेखक से यह प्रत्याशा की जाती है कि उसके लिखे से समाज में परिवर्तन होगा। लेकिन यह लेखक का पहला दायित्व नहीं है। पहला दायित्व है अच्छी रचना लिखना...लेखक से अतिरिक्त प्रत्याशा करना या उसे किसी मतवाद में बाँधना ठीक नहीं....।'' शशि देशपांडे कहती हैं : ''सामाजिक न्याय की बढ़ती या बढ़ावे के लिए लिखी गई रचना का मेल नैतिकता से जोड़ा जा सकता है, लेकिन वह तब तक महान साहित्य का दर्जा नहीं पा सकती, जब तक उसको सुरुचिसम्पन्न और विश्वसनीय रचना का रूप नहीं दिया जाता।'' फारुख ढोंढी ने सीएलआर जेम्स के हवाले से कहा है : ''वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जो पार्टियाँ कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट होने का दम्भ भरती हैं, वे बुर्जुआ से अधिक कुछ नहीं हैं जो फेल होते लोकतंत्रों में पैर जमाने की फिराक में रहती हैं।'' आक्तावियो पाज ने तो यहाँ तक कह दिया था : ''अब विचारधारा का युग महावृत्तांतों के युग की तरह समाप्त हो रहा है।''

फ्रांसीसी चिंतक दतरेसे के अनुसार, ''हर तरह की विचारधारा में 'कट्टरता' और 'अक्खड़ता' प्रवेश कर जाती है।'' कृष्ण बलदेव वैद ने 'अकार 18' में लिखा था, ''....विचारधारा की गुलामी लेखक के लिए घातक हो सकती है....पाब्लो नेरूदा बड़े कवि हैं, लेकिन घटिया चीजें भी उन्होंने विचारधारा की वजह से लिखीं। अगर विचारधारा की गुलामी न होती, तो घटिया चीजें वह बिल्कुल न लिखते....विचारधारा की गुलामी कला के लिए मारू साबित होती है।''

अंत में मैं जोला के इस उपन्यास में सेक्स सम्बन्धी वर्णनों की तरफ ध्यान दिलाना चाहता हूँ। जोला पर अश्लीलता का आरोप लगाया जाता है। जैसे, हेनरी जेम्स सम्भवत: बत्तीस की अवस्था में पेरिस गया था और उसे जोला के उपन्यास 'गंदे' लगे थे। मैं समझता हूँ, इस उपन्यास में सेक्स वर्णन जरूर है, लेकिन उसे अश्लीलता की कोटि में रखना जोला के साथ अन्याय करना होगा। यथार्थ चित्रण के चितेरे जोला ने जो देखा-सुना, उसी का उसने संयम के साथ वर्णन किया है। फिर यह स्थिति की माँग भी थी।

जैसे, माह्द इक्कीस बरस के एतियन को अपने घर में शरण देता है। उसका बिस्तर भी उसी कमरे में है जिसमें माह्द की जवान बेटी कैथरीन का बिस्तर है और साथ में छोटे-छोटे भाई-बहन के बिस्तर भी हैं। एतियन का बिस्तर कैथरीन के बिस्तर की बगल में है। दोनों सुबह-शाम अंधेरे में एक-दूसरे की उपस्थिति में कपड़े उतारते-पहनते हैं :

''कपड़े बदलते हुए सबसे अंत में जब कैथरीन का पेटीकोट नीचे गिरता, तो उसकी पीलियाई-सी गोरी निर्वस्त्र देह सामने खड़ी दिखाई पड़ती, तो एतियन परेशान हो उठता....उसे ऐसा प्रतीत होता कि उसकी देह ऐड़ी से लगाकर ग्रीवा तक दूध में डुबो कर निकाली गई है। एतियन मुँह मोड़ दूसरी तरफ देखने का बहाना करता, मगर धीरे-धीरे उसके अंग-प्रत्यंग को जानने-पहचानने लगा था....सुबह कैथरीन जब चिलमची पर झुककर हाथ-मुँह धो रही होती, तो उसके छोटे-छोटे पुष्ट उरोज दिखाई पड़ते रहते....मोमबत्ती बुझाने से पहले दोनों निर्वस्त्र होकर डोलते-फिरते। कैथरीन आदतन अपने बिस्तर के किनारे बैठकर बाल बनाती। ऐसा करते हुए उसकी बाँहें ऊपर उठतीं, शमीज सिकुड़ कर जंघाओं तक आ जाती। तब एतियन अकसर पतलून उतार चुका होता और यदि कैथरीन के हाथ से सुइयां नीचे गिर पड़तीं, तो उन्हें ढूँढने-उठाने में उसकी मदद भी करता....''।

मुझे याद पड़ता है, मोहन राकेश की किसी कहानी में भी ऐसा ही एक प्रसंग था जिसमें मौका मिलने पर भी स्त्री-पुरुष सम्भोग नहीं करते। इसे मोहन राकेश की बहुत बड़ी उपलब्धि माना गया था।

इससे थोड़ा हटकर एक उदाहरण देखिए। मोंसू गाँव के बाहर रकैयार कोयला-खान के खंडहर हैं, जहाँ :

''मौंसू गाँव की एक-एक छोकरी लुक-छिपकर अपने यार से मिलने आया करती थी....यहीं पर कोयले की ढुलाई करने वाली वे सारी छोकरियाँ अपनी कोख में पहले बच्चे का बीज डलवाया करती थीं....हर छोकरी यहाँ निधड़क होकर आती थी....इनके यार झटके से इन्हें शहतीरों पर या लकड़ी की टालों के पीछे या छकड़ों पर ढहा लेते, कोहनियों से कोहनियाँ मिलतीं और वे चालू हो जाते....पशुवृत्ति से उन्मत्त बेलगाम वासना का खेल होता था और उन छोकरियों की कोख में बीज पड़ता था, जो अभी बचपन की देहरी भी नहीं लांघ पाती थीं....''

निकट ही परित्यक्त खान का चौकीदार जब बाहर निकलता तो-

''विपय-भोग में अंधी मोंसू की ये सारी छोकरियाँ एकाएक मुँह उठाकर ऊपर देखतीं। ऐसे में चौकीदार फूँक-फूँक कर कदम रखता, ताकि रास्तों में पसरी टांगों पर कहीं पैर ही न पड़ जाए....एक बात का उसे बड़ा क्षोभ था। एक जोड़ा तो ऐसा था जो उसकी कोठरी की दीवार के साथ टिककर आलिंगनबद्ध होता था....वे इतने जोर-जोर से धकियाते थे कि उसे डर लगता था कि कहीं दीवार को क्षति ही न पहुँचे....''

यहाँ अश्लीलता-श्लीलता में विभाजक रेखा जरूर पतली है, लेकिन यह स्थिति की माँग थी। तत्कालीन फ्रेंच समाज का पारदर्शी चित्रण के लिए ऐसा करना कोई दोष नहीं था।

जर्मिनल की गणना फ्रेंच के कतिपय श्रेष्ठ उपन्यासों में की जाती है। यह उपन्यास हालांकि श्रमिक वर्ग का पक्षधर है, फिर भी, सोशलिस्ट इसे श्रमिक वर्ग के विरुद्ध 'बदगोई' भी मानते रहे हैं और इसके विरुद्ध अतिश्योक्ति के आरोप भी लगते रहे हैं। इस उपन्यास के साथ इरविंग हो ने जो लम्बी टिप्पणी लिखी है, उसमें वह कहता है कि ''जर्मिनल पहले से ही निश्चित पराजय के विषाद के साथ समाप्त होता है।'' पूर्वी यूरोप के मार्क्सवादी आलोचक जार्ज लुकाच ने यह कहकर जोला के इस उपन्यास की निंदा की थी कि यह यांत्रिक है और इसमें क्रांतिकारी ऊर्जा का अभाव है। शायद उसने उपन्यास के चौथे खंड के तीसरे अध्याय में यह देखकर यह बात कही थी कि एतियन जैसे अनपढ़ मजदूर ने अनुशासन का पालन करनेवाले श्रमिकों के समकक्ष पूँजीपतियों को भी इस श्रेणी में रखने की कोशिश की थी। इसी खंड के चौथे अध्याय में रासनर नामक पात्र के मुँह से कहलवाया गया है कि यह सोचना हिमाकत की बात है कि कोई रातोंरात दुनिया को बदल सकता है।

कहते हैं कि जोला के विरोधियों ने उसके घर की चिमनी बंद कर दी थी जिससे सोते हुए दम घुट कर जोला की मृत्यु हो गई थी। लेकिन उसकी शवयात्रा के साथ चलते हुए मजदूरों की भीड़ ने 'जर्मिनल, जर्मिनल' के नारे लगाते हुए जोला को श्रद्धांजलि दी थी।

उम्मीद है, आएगा वह दिन/ एमिल जोला/ अनुवाद : द्रोणवीर कोहली/ राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : सजिल्द 400 रु., पेपरबैक 150 रु.

एस-23/6, डीएलएफ-3, गुड़गाँव-122002

esa vkSj ^fcgkj cU/kq*

jkefujatu if jsyaq

बिहार बंधु की चर्चा पहली बार मैंने डॉ. वासुदेव नंदन प्रसाद से सुनी थी। वे उन दिनों मगध विश्वविद्यालय, बोधगया में हिन्दी विभाग में उपाचार्य थे। बाद में वे प्रोफेसर और उक्त विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हुए। उनके भारतेन्दु युग का नाट्य साहित्य और रंगमंच शीर्षक शोध-प्रबंध पर पटना विश्वविद्यालय ने जनवरी 1961 में पी-एचडी की उपाधि प्रदान करने की स्वीकृति दी थी। अपने शोधकार्य के संदर्भ में उन्होंने बिहार बंधु की फाइलों का सदुपयोग किया था। मेरी भी उत्सुकता बिहार बंधु की फाइलें देखने की हुई। यह उत्सुकता व्यग्रता में परिवर्तित हो गई। इसकी फाइलें पटना सिटी में एक सज्जन (?) के यहाँ सुरक्षित थीं। वे एक पत्रकार थे और पटना से प्रकाशित एक दैनिक पत्र आर्यावर्त से जुड़े थे। बिहार बंधु बिहार की सर्वप्रथम हिन्दी पत्रिका है जिसका प्रकाशन उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कभी पटना से होता था। मैं स्वयं स्थायी नौकरी छोड़कर पी-एच.डी. उपाधि हेतु पूर्णकालिक अनुसंधाता था और पटना में रहता था। यह 1967-68 का कालखंड था। वासुदेव बाबू लिखने-पढ़नेवाले आदर्श, प्रेरक और ईमानदार शिक्षक थे। उनसे मैंने पटना सिटी के उस व्यक्ति का पता पूछ लिया था जिनके यहाँ बिहार बंधु की फाइलें थीं। मुझे यह भी वासुदेव बाबू से मालूम हो गया था कि वह सज्जन रविवार को ही अपनी सुविधा से अपने निवास स्थान पर मिल सकते हैं क्योंकि दिन भर वे दफ्तर आदि में घर से बाहर ही रहते हैं। किसी प्रकार उनके घर का पता लगाकर मैं रविवार को अत्यंत विनम्रतापूर्वक उनसे मिला, वासुदेव बाबू का परिचय सूत्र दिया क्योंकि वे भी पटना सिटी के मूल निवासी थे और उनके यहाँ संचित बिहार बंधु का उपयोग कर चुके थे, उनसे पूर्व परिचित भी थे। उन्होंने अगले रविवार को पुनः मिलने का मुझे निर्देश दिया। जब अगले रविवार को मैं उनके निवास पर उनसे मिला तो उन्होंने कहा–''आज आवश्यक कार्यवश मैं व्यस्त हूँ। अगले रविवार को आप मुझसे पुनः मिलें।'' हर रविवार को मैं उनसे मिलता रहा और हर बार वे मुझे बड़ी चतुराई से टरकाते रहे।

अगला रविवार पुनः आ ही गया। यह प्रथम सप्ताह अगस्त 1969 की घटना है। बड़ी कृपा कर उन्होंने मेरे प्रणाम के उत्तर में कहा–'आइए'। उनके मकान के पिछवाड़े में एक खपड़ापोश सायबान था। वहाँ एक गाय बँधी थी। गीली कच्ची फर्श। सायबान के बाहर किचेन गार्डन छोटा-सा, साग-सब्जी उगी थी। एक पुरानी चौकी पर बिहार बंधु के अंक बेतरतीब ढंग से रखे थे। चौकी के ऊपर जूट की पुरानी खाली बोरियाँ जिन पर कुछ ईंटें रखी थीं–पेपरवेट के रूप में। मैं आश्चर्यचकित था। उन्होंने कहा–''परिमलेंदु जी, यहीं है बिहार बंधु। आप इसे पहले अरेंज कर दीजिए, फिर देखिएगा।'' कहकर वे चलते बने।

मैंने वर्ष के अनुसार उसे व्यवस्थित किया। कुछ वर्षों की फाइलों में पुरानी जिल्दें थीं। अव्यवस्था और बहुत गलत तरीके से रखे जाने के कारण फाइलों की स्थिति अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण और चिंताजनक थी। शाम को उस दिन एक बार व्यवस्थित किए जाने के कार्य का मुआयना उन्होंने कर लिया। थोड़ा संतुष्ट हुए और मुझे प्रतिदिन वहाँ आने की अनुमति दे दी। तत्पश्चात् मैं प्रतिदिन वहाँ पूर्वाह्न दस-साढ़े दस के बीच पहुँच जाता और प्रायः सात-आठ बजे रात्रि तक रहता। वे तो प्रतिदिन होते नहीं थे। बाउंड्री गेट में ताला लगा दिया जाता था ताकि मैं बिहार बंधु की कोई प्रति बाहर नहीं ले जा सकूँ। दरवाजा खटखटाने पर घर का कोई लड़का आता या कोई भी आता और मुझे सी.बी.आई. की जासूसी निगाहों से गौर से देखता कि कहीं वहाँ से बिहार बंधु की कोई एक फाइल तो चुराकर नहीं ले जा रहा हूँ।

एक बार वह सज्जन सहसा आए। मैंने आदरपूर्वक खड़े होकर उन्हें प्रणाम किया और प्रतिउत्तर देने की आवश्यकता उन्होंने महसूस नहीं की। मेरी कवर फाइल से मेरी रजिस्टर निकालकर उसके अनेक पन्ने वे उलटते रहे, बिहार बंधु से लिए गए नोट्स के पन्ने गिनकर दुःखी हुए–'क्या आप सब कुछ उतार ही लीजिएगा। तब हमारे पास क्या बचेगा? नहीं, नहीं ऐसा हर्गिज नहीं करें।' मैं चुप। तब उत्तर देना उनकी प्रतिष्ठा के विरुद्ध होता। मैं 96 फुलस्केप पृष्ठों की रजिस्टरों पर नोट्स की सुरक्षा की दृष्टि से उन दिनों लिखा करता था। उन दिनों फोटोस्टेट या जेरॉक्स की सुविधा नहीं थी। होती भी तो जेरोक्स कराने की अनुमति नहीं मिलती।

बिहार बंधु के अंक प्रतिदिन मैं प्रायः दस घंटे तक देखता और नोट्स लेता। लगभग

डेढ़ महीने तक मेरा यह कार्यक्रम चला। किन्तु मुझे प्रसन्नता है कि बिहार बंधु के उपलब्ध अधिकतर अंकों को मैं देख सका और अपने विषय और अपनी रुचि के अनुकूल नोट्स ले सका। किन्तु कितनी अपमानजनक मन:स्थितियों से इसके लिए मुझे गुजरना पड़ा, इसकी चर्चा लज्जावश मैंने पटना में उन दिनों किसी से नहीं की।

हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में बिहार बंधु का नामोल्लेख हुआ है किन्तु गलत ढंग से। इसके संबंध में अब तक यही कहा गया कि इसका प्रकाशनारम्भ 1872 ई. में हुआ, केशवराम भट्ट इसके सम्पादक थे, बस।

1894 में प्रकाशित हिन्दी पत्रकारिता के सर्वप्रथम पुस्तकाकार इतिहास में बिहार बंधु का सबसे पहला उल्लेख हुआ था। भारतेंदु काल के प्रख्यात साहित्यकार राधाकृष्ण दास (श्रावण सुदी पूर्णिमा विक्रम संवत 1922, सन् 1865 ई.–2 अप्रिल 1907 ई.) द्वारा विरचित और 1894 ई. में प्रकाशित हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास नामक पुस्तक ही हिन्दी पत्रकारिता का सबसे पहला पुस्तकाकार इतिहास है।

हिन्दी पत्रकारिता के व्यापक हित में इसका दूसरा संस्करण होना चाहिए। यह मात्र अड़सठ पृष्ठों में है।

इसके सतरहवें पृष्ठ पर एक छोटा पैराग्राफ बिहार बंधु के सम्बन्ध में है जो अधोलिखित है–''सन् 1872 में बिहार प्रांत से पंडित केशवराम भट्ट तथा पंडित साधोराम भट्ट के उद्योग से उस प्रांत में पहिला साप्ताहिक पत्र बिहार बंधु निकला। इस पत्र की लेख प्रणाली बहुत सुंदर और प्रौढ़ थी परन्तु भाषा खिचड़ी उर्दू विशेष अधिकार लिए थी। अब यह पत्र अत्यंत हीनावस्था में मासिक होकर नाम निबाहे जाता है।''

उक्त इतिहास में लेखक ने हिन्दी भाषा के समाचारपत्रों का सूचीपत्र भी पृष्ठ संख्या 58 से 68 तक दिया है जिसमें पत्र का नाम, सम्पादक, स्थान, साप्ताहिक अथवा मासिक (आवधिक), मूल्य, जन्म वर्ष और विशेष अर्थात् सात कालमों का सूचीपत्र है। वर्णमाला के अनुसार क्रमबद्ध रूप से पत्रिकाओं के नाम दिए गए हैं। इसमें संपूर्ण रूप से 139 पत्रिकाओं की नामावली है। बिहार बंधु के सम्बन्ध में मात्र इतना ही संकेत इसके पैंसठवें पृष्ठ पर है–'बिहार बंधु पं. केशोराम भट्ट, बांकीपुर मा 2 रुपये 1872' अर्थात् बिहार बंधु पंडित केशोराम भट्ट के सम्पादन में बांकीपुर पटना से 1872 से निकल रहा था और यह मा अर्थात् मासिक पत्र था।

लाला बालमुकुन्द गुप्त (1875–1907) ने संवादपत्रों का इतिहास में राधाकृष्ण दास के बिहार बंधु विषयक कथन की ही पुनरावृत्ति कर दी है।

तत्पश्चात् आधुनिक हिन्दी भाषा के उन्नायक और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापकों में से एक श्यामसुंदर दास (14 जुलाई 1875–8 अगस्त 1945) द्वारा लिखित और 1909 में प्रकाशित हिन्दी–कोविद रत्नमाला (पहिला भाग) में पंडित केशोराम भट्ट (24 अक्टूबर 1855–1905) का संक्षिप्त जीवन परिचय दिया गया है। इसमें श्यामसुंदर दास ने कहा–''पंडित केशोराम जी ने सन् 1874 में बिहार बंधु प्रेस खोला। उसी के साथ बिहार बंधु समाचार–पत्र का प्रकाशन आरंभ किया। आप किसी कार्य विशेष से कुछ दिन के लिए कलकत्ते चले गए थे इसलिए इनके सहपाठी मुंशी हसन अली बिहार बंधु के सम्पादक हुए और ये उसको केवल लेखों से उसकी सहायता करते रहे।....''

सन् 1875 ई. में बिहार बंधु का सम्पादन इन्होंने स्वयं अपने हाथ में लिया.... हिंदी–कोविद रत्नमाला (पहिला भाग), 1909 ई., पृष्ठ संख्या 52–53

रेजिष्टर्ड नं० ३७।

बिहार बन्धु।

सत्यं नास्ति भयं क्वचित्।

हर बुध को छप कर निकलता है।

५ भाग। ८ संख्या। | पटना—२१वीं फ़ेबूअरी, १८७७। | बरस का मगीड़ी शहर में १।) मुफ़स्सिल में २)

विज्ञापन।

आने वाली मार्च महीने से सर्वेंटंग क्लास में पहले वर्ष की पढ़ाई प्रारंभ होगी। जो लोग इस में भरती होने चाहें, वा कर शीघ्र भरती हों। जो लोग वर्नेक्यूलर या माइनर इक्जामिनेशन दे चुके हैं, वा अंगरेजी स्कूल में जिन्हें दर्जे तक पढ़े हैं, वे इस क्लास में भरती किये जायेंगे। एक रुपया महीना फ़ीस लगेगा। जो स्कालरशिप पाते हैं उन्हें फ़ीस नहीं लगेगा।

...नामय तत्र, न कह सकी कुछ भी,
दृग छाती पर डाल रख, बोली।
"एक दिन, थी खड़ी अटारी पर,
छवि पुर की, विलोकती सुन्दर।
उत्तम उत्तम सुवर्ण के आलय,
देख कर जिन की इन्द्र को विस्मय,
अति रंजन तड़ाग निर्जन में,
चकित होवे अवध विलोकि जिन्हें,
वाटिका दिव्य, फूल की क्यारी,
कुंज गुंजान, वन सघन, झाड़ी.
पालकी, रथ, मतंग मतवाले,
अश्व जिन के तड़ाम, पवन से ले,
स्त्रियां कामिनी, पुरुष सुन्दर,
आते, जाते, खड़े, भरे घर घर,
यात्री दूर दूर देशों के,
करते अनशन, विशाल हृत्य तले,
बहुरि, ये जिन के घर निकट वा बे,
चले जाते बिना विलम्ब किये।
देखती देखती गिरी, होकर -
मूर्च्छित, प्रीत फांस में फंस कर।
एक पुरुष, जिस के अंग की शोभा
देख, मन में मदन से हो लज्जा,
था खड़ा एक विटप की छांव तले,
देखता मुझ पर, टकटकी बांधे।
मेरी आंखें जो जा लड़ीं एक बार,
गिरा मस्तक पर, प्रीत का अंगार।

सब ही तो यहां के पुराने बड़े बड़े हाकिम सब के सब ही बदल जायेंगे।

धीर बक्शेर खां के सब-इन्स्पेक्टर ने हमीद सौदागर पर पुलीस की ओर से जो मुकद्दमा चलाया था वह डिसमिस हो गया। अब सौदागर को मारपीट की नालिश अमीर हसन खां बहादुर के इजलास में पेश है, अब तक कई एक गवाहों की गवाही सुनी जा चुकी है। इजलास में इतनी भीड़ रहती है कि मक्खी टसकने की जगह नहीं मिलती। पुलीस

माजिब'

अब तक मैं जानता था कि सरकार की कौड़ी बहुत जांच कर खर्च की जाती है। लेकिन बहुत से बेफ़ायदे खर्च की मिसाल देख, मेरा जी दंग हो गया। जहां खर्च वाजिब है वहां तो होता नहीं, और जहां बहुत खर्च से लाभ नहीं, वहां अक्सर हिसाब रुपये उड़ाये जाते हैं। देखिये तो सही यह कैसी अंधेर की बात है, कि बहुत से देहाती पाठशाला जिस से सैकड़ों ग़रीब के बच्चे शिक्षा पाते थे, और अनमोल लाभ उठाते थे, ज्यादे खर्च के डर से उठा दिये गये। बहुत से मिडल स्कूल, पाठशाला कर दिये गये। न जाने पटना नार्मल से सरकार को क्या लाभ है, कि दो ही क्लास के वास्ते, जिस में सिर्फ़ २५ लड़के हैं पांच टीचर पूरी तनख़ाह पर मुक़र्रर हुए हैं? नार्मल स्कूल का हाल तो सब लोग जानते हैं, कि वहां कैसी पढ़ाई होती है, भला एक टीचर २ ही घंटा पढ़ा सकता है? बड़े बड़े कौलेज के प्रोफ़ेसर लोग बेचारे तीन घंटे से कम कभी नहीं पढ़ाते, और ये लोग सिर्फ़ दो ही घंटे!! वाह रे डिफ़िज़ कमिटी पराया धन फूंकने में ऐसी फुर्ती!!

काम्बिल साहिब ने यही दूरदेशी सोच कर कमिटी बनाई थी, कि इस में स्कूल का इन्तज़ाम उन में से कोई न कोई सेजिसलेटिव कौनसिल के मेम्बर भी होंगे, और इस वे बातें समझ कर रोक टोक करते, जगह जगह सभा नियत कर के, उस के लिखे की दरख्वास्तें भेजते। खुद लिखे पढ़े नहीं होने के कारण धनिक लोग इस देश के प्रायः देनदारों के हाथ में हैं। केवल बङ्गदेश समाचार-पत्र के सम्पादक जो वास्तव में देनदारों के दल के हैं, न्याय को राह दे, अमीरों को दया पर तरस खा के उन की ओर से जो कभी कुछ लिखते हैं।

कहने का तात्पर्य्य यह है कि इस आईन से [illegible] दिवालियों के बाबत लिखा है, उन का बहुत दुरुपयोग [illegible] कर बहा-भी मैं आप के पत्र द्वारा लोगों से पूछूंगा।

कोई आतुर
जिज्ञासक।

महाशय!

१

"कवि-वचन-सुधा" के बन्द होने से जो कुछ हम लोगों को दुःख हुआ है, लिख नहीं सकते। आज हम जितना इस के लिये विलाप और सलाप करें सब ठीक है। बंग भाषा के रसिकों को "बंग दर्शन" को अकाल मृत्यु से जो दुःख हुआ, हिन्दी रसिकों को उस से सौगुना खेद आवश्यक है। इन पत्र से हिन्दी भाषा को जितनी उन्नति पहुंचे, सब जानते हैं। क्या व्याख्यान, क्या नाटक, और क्या कवितादिक सभी इस में अपूर्व छपते थे। हम नहीं जानते कि लोग अब आगे हिन्दी भाषा को उन्नति का उपाय क्या सोचते हैं? समाचार पत्र जिन से भाषा को अत्यन्त उन्नति होती है दिन दिन घटते जाते हैं। और जो एक दो हैं, उन का कलेवर बहुत छोटा है। देश-भक्त धनाढ्यों को चाहिये कि इस पथों को आश्रय दें, जिस से ये झट पुष्ट हो कर भाषा की वृद्धि करें।

श्री राधाचरण गोस्वामी।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल (1884-2 फरवरी, 1941) ने श्यामसुंदर दास के प्रधान संपादकत्व में समग्र रूप से 1929 में प्रकाशित हिन्दी शब्दसागर की प्रस्तावना के उपखंड हिन्दी साहित्य का विकास की पृष्ठ संख्या 224 पर भारतेंदु हरिश्चंद्र के जीवनकाल में प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं की एक सूची दी है जिसमें मात्र इतना ही उल्लेख है-''बिहार बंधु संवत 1929 सं. केशवराम भट्ट।'' इसी कथ्य की पुनरावृत्ति शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य का इतिहास (संस्करण 2041 वि.) की पृष्ठ संख्या 310 पर की है।

खेद है कि बिहार बंधु के सम्बन्ध में राधाकृष्ण दास, बालमुकुन्द गुप्त, श्यामसुंदर दास और रामचंद्र शुक्ल के कथन त्रुटिपूर्ण, भ्रामक और सच से परे हैं। सच यह है कि बिहार बंधु का प्रकाशनारम्भ 1872 में नहीं हुआ, पंडित केशवराम भट्ट इसके प्रथम सम्पादक नहीं थे। बिहार बंधु के विषय में बालमुकुन्द गुप्त के कथन का मुख्य आधार राधाकृष्ण दास का उक्त इतिहास ही था। श्यामसुंदर दास ने बिहार बंधु के सम्बन्ध में जो लिखा है, वह भी सच नहीं है। उनके कथन से तात्पर्य निकलता है कि पंडित केशवराम भट्ट ने 1874 में बिहार बंधु प्रेस प्रतिष्ठापित करने के पश्चात् बिहार बंधु समाचार पत्र निकालना प्रारम्भ किया। किन्तु यह प्रेस कहाँ था? इसका अर्थ यह है कि बिहार बंधु का जन्म 1874 में हुआ। क्या यह दैनिक पत्र था? श्यामसुंदर दास के अनुसार केशवराम भट्ट जब कलकत्ता किसी कार्यवश चले गए तब मुंशी हसन अली इसके सम्पादक हुए। 1875 में, उनके कथनानुसार भट्ट जी भी सम्पादक हुए। शुक्ल जी ने बिहार बंधु विषयक कथन का मुख्य आधार राधाकृष्ण दास द्वारा विरचित हिंदी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास ही है। शुक्लोत्तर विद्वानों ने भी बिहार बंधु के सम्बन्ध में सही सूचना नहीं दी। इसका कारण यह है कि राधाकृष्ण दास और उनके बाद के लेखकों ने बिहार बंधु के अंकों को देखा ही नहीं। शुक्लजी ने सम्भवत: बिहार बंधु के अंकों को नहीं देखा था। उनके इतिहास की स्रोत सामग्री का मुख्य आधार काशी नागरी प्रचारिणी सभा का आर्यभाषा पुस्तकालय था। इस पुस्तकालय में बिहार बंधु के पुराने अंक न कभी थे, न अब भी हैं। हिंदी-कोविद रत्नमाला से भी उन्होंने बहुत कुछ सामग्री ली थी, इस तथ्य को उन्होंने अपने इतिहास के प्रथम संस्करण के वक्तव्य में सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया है। शुक्लजी और उनके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती सभी लेखकों ने बिहार बंधु का गलत परिचय देकर हिंदी पत्रकारिता के इतिहास को गुमराह ही किया। शुक्लजी के बाद, शिवपूजन सहाय, हरिमोहन झा और अच्युतानंद दत्त के सम्पादन में 1942 में प्रकाशित वृहद् ग्रंथ-जयंती स्मारक ग्रंथ-में पृष्ठ संख्या 574 पर कहा गया है कि 1872 में पंडित केशवराम भट्ट और पंडित मदनमोहन भट्ट के सदुद्योग से बिहार बंधु नामक साप्ताहिक पत्र बिहारशरीफ से निकला था। पंडित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने समाचारपत्रों का इतिहास नामक पुस्तक में पृष्ठ संख्या 141 पर बिहार बंधु का जन्म वर्ष 1872 घोषित किया है। अब बिहार बंधु विषयक भ्रांतियों को स्थानाभाव के कारण ज्यादा विस्तार नहीं दूँगा।

हिन्दी साप्ताहिक पत्र बिहार बंधु, 6 मार्च शुक्रवार 1874 (जिल्द 2 नंबर 1), में पृष्ठ संख्या छ: पर बिहार बंधु की प्रार्थना शीर्षक संक्षिप्त सम्पादकीय छपा था जो अधोलिखित है-''ऐ! सारे जहान के मालिक! छोटे को बड़ा करनेवाले, कम अक्ल को अक्ल देने वाले! सब बातों के जाननेवाले! तुझसे हमारी वह प्रार्थना है, कि जिस तरह से तेरी कृपा की लाठी को थेगते हुए बराबर एक वर्ष तक चले आए, वैसे ही आगे भी चलें अपने काम को नेकनिअती के साथ करें। और अपने पढ़नेवालों को काम आवे। सबहो का बल देवैया तू ही है अगर तेरी बल हम को मिले तो इसी अपनी कद से बड़े डील-डौल वालों का नाक काटूँ। तेरी मदद हो, तो पहाड़ के ऐसे 2 मुश्किल पल भर में आसान हो सकते हैं। तू ही हमारा मददगार हो, तेरा ही हमको आस है! ऐ मालिक तू हमारा साथी हो! ब्रह्म कृपाहि केवलम्!''

उपर्युक्त उद्धृत वाक्यों में किसी प्रकार का संशोधन तत्कालीन गद्य-भाषा की स्वाभाविकता की ऐतिहासिक सुरक्षा के लिए नहीं किया गया है।

उद्धृत पंक्तियों से स्पष्ट है कि इसके पूर्व एक वर्ष से बिहार बंधु का प्रकाशन हो रहा था। 6 मार्च शुक्रवार 1874 के अंक से उपर्युक्त पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं। अर्थात् मार्च 1873 में बिहार बंधु का प्रकाशनारंभ हुआ था। 1873 के इसके अंक अप्राप्य हैं। बिहार बंधु, 16 जनवरी और 23 जनवरी 1909 के दो-दो अंकों में 'नए वर्ष में पदार्पण। 37 वर्ष की कुछ अपनी बात' शीर्षक से सम्पादकीय अग्रलेख छपा था। यह सम्पादकीय अग्रलेख ही इसका सर्वप्रथम प्रामाणिक और विश्वसनीय इतिहास है। बिहार बंधु, 16 जनवरी, 1909 की पृष्ठ संख्या 2 कालम 3 पर यह घोषणा की गई थी कि 1874 से पूर्व की बिहार बंधु की फाइल नहीं मिलती है।

बिहार बंधु के जन्मदाता पंडित मदन मोहन भट्ट थे। बिहार प्रांत की व्यथा को दूर कराने और बिहारियों को अपने कर्तव्य सुझाने के लिए उन्होंने यह पत्र निकाला था। तात्पर्य यह कि बिहार बंधु ही किसी भी भाषा में प्रकाशित बिहार की सर्वप्रथम पत्रिका है।

आरम्भ में बिहार बंधु दस पृष्ठों का साप्ताहिक हिन्दी पत्र था। प्रत्येक पृष्ठ तीन कालमों का था। आरम्भ में इसमें विज्ञापनों का आधिक्य था। उदाहरणार्थ, 6 मार्च (शुक्रवार) 1874 ई. का इसका अंक आरम्भिक पाँच पृष्ठों तक मात्र विज्ञापनों से परिपूर्ण हैं। विज्ञापनों की भाषा पर उर्दू का प्रभाव है।

बिहार बंधु का सिद्धांत वाक्य था-सत्ये नास्ति भयं क्वचित्। साप्ताहिक शब्द के विकल्प में इसमें आरम्भ में हफ्तेवारी शब्द छपता था।

एक वर्ष का वार्षिक शुल्क डाक महसूल समेत तीन रुपये था। एक प्रति का मूल्य नकद आधा आना था।

आरम्भ में बिहार बंधु का मुद्रण गोपालचंद डे द्वारा पूर्णप्रकाश प्रेस, 79 माणिकतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता से किया जाता था। सम्भवत: इसी कारण इस पत्र के कलकत्ता से प्रकाशित होने का भ्रम फैला।

बिहार में उन दिनों साहित्यिक प्रकाशन हेतु सुव्यवस्थित और विश्वसनीय प्रेस नहीं था। इसका कार्यालय और इसके प्रकाशन का नगर पटना था। इसके द्वितीय वर्ष के प्रथमांक में भी लिखा है–''2 जिल्द पटना तारीख 6 मार्च शुक्रवार सन् 1874 ई. नम्बर, 1'' इस अंक में अन्तिम पृष्ठ पर 'चिट्ठी भेजने का पता' छपा है–पटना बांकीपुर चौहट्टा कालिज के पास मुंशी हसन अली औ कलकत्ता बड़ी बाजार नं. 147 तूलाप मदनमोहन भट्ट के पास। बिहार बंधु, पटना 20 मार्च, शुक्रवार 1874 ई. (जिल्द 2 नंबर 3), में पृष्ठ संख्या 22 पर लिखा है–"All letters, Newspapers, orders or advertising in the Behar Bundhu must be addressed to Munshi Hassanali Manicktolah street No. 125 Behar Bundhu Office, Calcutta."

18 अगस्त, 1874 के अंक से बिहार बंधु कार्यालय 7 तुलापट्टी (छोटी संगत के सामने), बड़ा बाजार, कोलकाता और 1 सितम्बर, 1874 के अंक से 113 काटन स्ट्रीट, कोलकाता स्थानान्तरित हो गया। बिहार बंधु कार्यालय के मैनेजर राजेन्द्रनाथ मुखर्जी थे।

बिहार बंधु ने कविवचनसुधा और बनारस अखबार को यह सलाह दी थी कि आपस का द्वेष और विरोध का परित्याग कर अपने कर्तव्य का पालन एकमत होकर करें और यदि किसी का कुछ दोष हो तो उसे क्षमा की जाए। इस प्रकार, इस पत्र ने अभिभावक की भूमिका का निर्वाह किया। उसने अनेक पक्षीय सुलह-सफाई का क्रम बनाया और शांति की नई उम्मीद पैदा की।

बिहार बंधु ने श्रीहरिश्चंद्र चंद्रिका की समीक्षा में 15 सितम्बर, 1874 ई. के अंक में पृष्ठ संख्या 166 पर पहली बार समालोचना शब्द का प्रयोग किया था।

रामचंद्र शुक्ल के अनुसार हिन्दी में समालोचना का सूत्रपात बालकृष्ण भट्ट और उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी प्रेमधन ने किया जब उन्होंने 1886 में लाला श्रीनिवास दास के संयोगिता-स्वयंवर नाटक की समालोचना की थी। किन्तु उनके बहुत पूर्व 1874 में मुंशी हसन अली ने बिहार बंधु में समालोचना विधा का सूत्रपात किया था। तत्पश्चात 1886 के पूर्व हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में अनेक समालोचनाओं का प्रकाशन होता रहा। हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास में पृष्ठ संख्या 90 पर रामस्वरूप चतुर्वेदी का यह कथन सर्वथा गलत और असत्य है कि हिंदी में व्यावहारिक आलोचना का सूत्रपात बालकृष्ण भट्ट और प्रेमधन की पत्रिकाओं में हुआ। बालकृष्ण भट्ट का हिंदी प्रदीप, का प्रकाशनारम्भ सितम्बर 1877 में हुआ और प्रेमधन की आनन्दकादम्बिनी पहली बार 1881 में आई। इनके बहुत पूर्व हिंदी में व्यावहारिक आलोचना विभिन्न पत्रिकाओं में छप रही थीं।

2 फरवरी मंगलवार 1875 का इसका अंक तत्कालीन कलकत्ता से प्रकाशित अन्तिम अंक था। इस अंक में सम्पादकीय अग्रलेख का शीर्षक था–''महारानी मदिरे! अब भी इस देश से सिधारिये।'' मद्यनिषेध का स्वर भी तत्कालीन साहित्य में सुनाई पड़ता है। इस सामाजिक कुप्रवृत्ति के विरोध में लिखित सम्पादकीय अग्रलेख इस साप्ताहिक पत्र के नवजागरण अभियान का ही एक हिस्सा था।

1875 के प्रारम्भ में चौहट्टा, बांकीपुर, पटना में बिहार बंधु यंत्रालय अर्थात् प्रेस की स्थापना हो गई थी। इस प्रेस से यदुनाथ राय के प्रबंधकत्व में पहली बार 9 फरवरी मंगलवार 1875 को बिहार बंधु का अंक मुद्रित प्रकाशित हुआ। 9 फरवरी, 1875 से ही बिहार में देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा में साहित्यिक मुद्रण का आरम्भ हुआ।

यह बिहार का सबसे पहला सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रेस था। 1875 में ही पटना में बिहार हेरल्ड प्रेस की स्थापना हुई थी जो अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र बिहार हेरल्ड का प्रेस था। एक नवम्बर 1876 को बिहार बंधु प्रेस में हिन्दी पुस्तकालय की प्रतिष्ठापना की गई थी जिसमें हिन्दी ही नहीं, संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला, अरबी, फारसी और उर्दू की पुस्तकें थीं। यह भारत के किसी भी प्रेस का पहला सार्वजनिक पुस्तकालय था।

बिहार बंधु, 11 और 18 अक्टूबर 1876 में राधालाल द्वारा विरचित हिंदी किताब–'पहला नंबर' की विस्तृत समालोचना 'चीठी पत्री' स्तम्भ में दो अंकों में साधोराम भट्ट ने की थी। यह हिंदी में पहली लम्बी पुस्तक समीक्षा है। समालोचना शब्द को व्यवहार द्वारा व्यापकता देने और अधिक से अधिक प्रचलित करने में इस साप्ताहिक पत्र का विशेष योगदान था। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। बिहार बंधु 24 अक्टूबर बुधवार 1877 (जिल्द 5 संख्या 42), में अलीगढ़ से बाबू तोताराम वर्मा (1847-12 दिसम्बर 1902) के सम्पादन में स्वदेश हित में प्रकाशित हिन्दी साप्ताहिक पत्र भारत बंधु की समालोचना छपी थी। इसके समालोचक इसके संपादक दामोदर विष्णु सप्रे थे। हिन्दी में आजकल पत्रिकाओं में नई पुस्तकों का 'प्राप्ति स्वीकार' किया जाता है। इसकी परम्परा का प्रारम्भ बिहार बंधु, 26 जून, 1878 में पृष्ठ संख्या एक पर हुआ था जिसमें लाला श्रीनिवास दास (कार्तिक शुक्ल एक विक्रम संवत 1908, सन् 1851 ई.-चैत्र शुक्ल 3 वि.सं. 1944 तदनुसार 27 मार्च 1887 ई., मथुरा) कृत रणधीर और प्रेममोहिनी नाटक का धन्यवादपूर्वक प्राप्ति स्वीकार किया गया था।

हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में बिहार बंधु के प्रति नकारात्मक राजनीति ही अब तक होती रही है, जो दुर्भाग्यपूर्ण ही है। 1873 से 1912 तक नियमित रूप से इसका प्रकाशन होता रहा। पुन: 30 अप्रिल 1922 से 21 मार्च 1924 तक इसका प्रकाशन हुआ। यह हिंदी के अत्यंत दीर्घजीवी महत्त्वपूर्ण पत्रों में से एक था।

दक्षिण दरवाज़ा, गया-823001 (बिहार)

lkearh lekt dk ikfdLrkuh psgjk

izHkkr jatu

पिछले अंक में हमने पाकिस्तानी अंग्रेजी लेखक मो. हनीफ और उनके पहले उपन्यास 'ए केस ऑफ एक्सप्लोडिंग मैंगोज' की चर्चा की थी। पिछले साल इस उपन्यास की दुनियाभर में धूम रही। इस साल एक और पाकिस्तानी लेखक दनियाल मुईनुद्दीन और उनके पहले कहानी संग्रह 'इन अदर रूम्स, अदर वंडर्स' की अमेरिका और यूरोप के अंग्रेजीभाषी देशों में जबर्दस्त चर्चा है। संग्रह के प्रकाशन से पूर्व उनकी कहानियाँ ग्रांटा, न्यूयॉर्कर जैसी अंग्रेजी की प्रमुख पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर प्रसिद्ध हो चुकी थीं। कहा जा रहा है कि उनकी कहानियों में आर.के. नारायण की कहानियों की तरह ही परिवेश पर पकड़ दिखाई देती है। जिस तरह उच्चवर्गीय जीवन का खोखलापन इन कहानियों में दिखाया गया है, वह चेखव की याद दिलाता है।

उनके इस कहानी संग्रह में अमेरिका और यूरोप के अंग्रेजी प्रकाशकों ने जैसी दिलचस्पी दिखाई, वह अप्रत्याशित है। अमेरिका के एक-दो नहीं, दस-दस नामचीन प्रकाशक इस पुस्तक को प्रकाशित करना चाहते थे। उनकी रुचि इस पुस्तक में इतनी अधिक थी कि अमेरिका में इसके प्रकाशन अधिकार को लेकर नीलामी करवाई गई। नीलामी में नॉर्टन नामक प्रकाशक ने बीस लाख डॉलर में केवल अमेरिका में पुस्तक के प्रकाशन-अधिकार खरीदे। इंग्लैंड में भी प्रकाशकों की रुचि का कमोबेश यही आलम रहा। वहाँ भी तीन नामचीन प्रकाशकों ने दिलचस्पी दिखाई। अंतत: सलमान रुश्दी की पुस्तकों के प्रकाशक रैंडम हाउस ने मोटी रकम चुकाकर प्रकाशन के अधिकार प्राप्त किए। प्रसंगवश, सलमान रुश्दी ने वर्ष 2008 की प्रमुख अमेरिकी कहानियों के संकलन में इस लेखक की कहानी को भी स्थान दिया था। अंग्रेजी साहित्य की दुनिया में पहले भारतीय मूल के अंग्रेजी लेखक एडवांस में मोटी राशि प्राप्त कर खबरों में छा जाते थे। लेकिन लगता है कि अब पाकिस्तानी मूल के अंग्रेजी लेखक धीरे-धीरे उनकी जगह लेते जा रहे हैं।

कहा जा रहा है कि सलमान रुश्दी के अलावा भारतीय उपमहाद्वीप के किसी और लेखक को लेकर पश्चिम ने पहले ऐसा भरोसा और उत्साह नहीं दिखाया था। वैसे भी किसी लेखक के कहानी-संग्रह को प्रकाशन से पूर्व इतना नाम-दाम शायद ही मिला हो। सहज ही यह जिज्ञासा जगती है कि करीब तीस वर्षीय इस अमेरिका-पलट लेखक की रचनाओं में ऐसा क्या है कि उसे ऐसी अप्रत्याशित प्रसिद्धि और इतना अपार प्रचार-प्रसार मिला। जवाब उनकी कहानियों में ढूँढा जा सकता है। 247 पृष्ठों के कथा-संग्रह 'इन अदर रूम्स, अदर वंडर्स' में आठ कहानियाँ हैं। इन कहानियों में लेखक ने पाकिस्तान की यथास्थितिवादी समाज की विडम्बनाओं की कुछ झाँकियाँ दिखाई हैं। कहानियों के माध्यम से लेखक मानो यह संकेतित करना चाहता है कि वास्तव में वहाँ की अराजक राजनीति के लिए वह सामंती समाज ही जिम्मेदार रहा है जिसके संदर्भों से इन कहानियों का ताना-बाना बुना गया है।

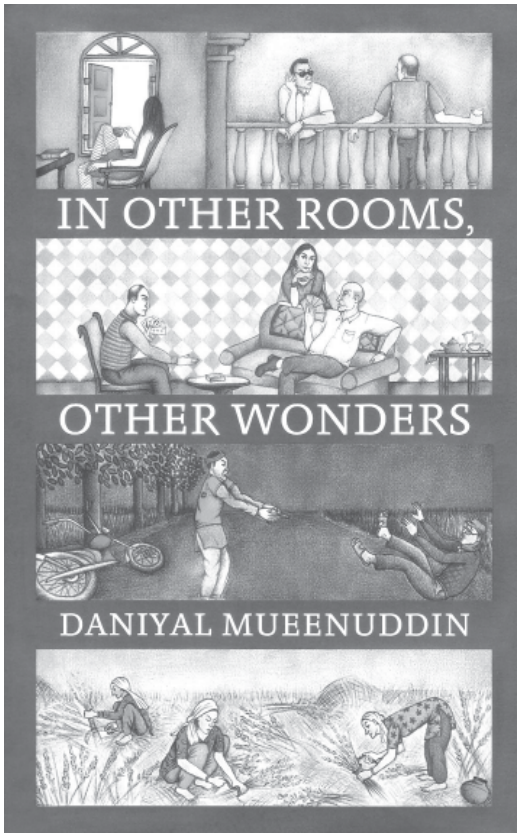

इन कहानियों के केंद्र में लाहौर के गुलफिशां नामक विशाल हवेली में रहने वाले के.के. हारुनी नामक एक बुढ़ाते सामंत का देश-विदेश में फैला कुनबा है, उसके नौकर-चाकर हैं, अलग-अलग शहरों-गाँवों में बिखरी जमींदारियाँ हैं, शामों की रंगीनियाँ हैं और उन सबसे जुड़े अनेक प्रसंग हैं जो इन कहानियों की शक्ल में ढले हैं। लेकिन आरम्भ में ही इस बात को मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यह संग्रह किसी एक परिवार से जुड़ी कहानियों का समुच्चय नहीं है। कह सकते हैं कि के.के.

हारुनी एक प्रतीक हैं–उस सामंती समाज का, जिसके कारण पाकिस्तान में लोकतंत्र की जड़ें मजबूत नहीं हो पाईं, जिसके कारण वहाँ तानाशाही के लम्बे–लम्बे दौरों के बावजूद न तो किसी प्रकार के सामाजिक आंदोलन की सुगबुगाहट हुई, न ही सामाजिक परिवर्तन की कोई जमीन तैयार हो सकी।

पाकिस्तान के वर्तमान समाज की तरह ही इनमें कथा के कई स्तर हैं। एक ओर, सामंतों की दुनिया है, उनकी पार्टियाँ हैं, उनके विदेशों में रहते बच्चे हैं, दूसरी ओर उनके खेतों में, उनकी हवेलियों में काम करने वालों की दुनिया है, भ्रष्ट अफसरशाही का चेहरा है, जो हारुनी जैसे सामंतों की महफिलों की शान बढ़ाने के काम आता है और उनके पैसे पर उनके लिए कुछ भी करने को तैयार रहता है। अदालतें भी इस भ्रष्टाचार में गहरे लिप्त हैं। अबाउट ए बर्निंग गर्ल में जज की टिप्पणी मानीखेज है कि इस देश में किसी भी चीज का प्रबंध किया जा सकता है। किस तरह पैसे के बल पर पाकिस्तान के सख्त कानूनों को अपने अनुकूल बनाया जा सकता है अबाउट ए बर्निंग गर्ल नामक कहानी में लेखक ने बहुत अच्छी तरह इसको दिखाया है। पैसे और पहचान के बल पर पाकिस्तान में कुछ भी सम्भव है। इस कहानी में दिखाया गया है कि एक जज का कारिंदा उसके नौकर को हत्या के आरोप से बरी करवाने के लिए किस–किस तरह की चालें चलता है। मियाँ साहेब नामक जज का इस कर्मचारी के रूप में लेखक ने एक यादगार चरित्र की रचना की है जो पाकिस्तानी कानून की बारीकियों से तो वाकिफ है ही उसे तोड़ने के सारे तरीके भी जानता है।

इन कहानियों के विषय में एक उल्लेखनीय बात यह है कि इनके केंद्र में भले एक बड़े सामंत का रुतबा हो मगर जिन कहानियों के कारण इस संग्रह को उल्लेखनीय कहा जा सकता है उनका सम्बन्ध पाकिस्तानी समाज के निम्न वर्ग से है। वहाँ के निम्न वर्ग में स्त्रियों की दशा कितनी दयनीय है, लेखक ने कई कहानियों में दिखाया है। सलीमा कहानी में सलीमा हारुनी के खास कारिंदे रफीक की रखैल बन जाती है, उसका गुजर–बसर ठीक–ठाक चलने लगता है कि अचानक हारुनी साहब गुजर जाते हैं, मालिक के मरते ही नौकरों की दुनिया बिखर जाती है, बूढ़ा रफीक कहीं और नौकरी करने चला जाता है और जवान सलीमा की दुनिया उजड़ जाती है और वह लाहौर की सड़कों पर भीख माँगने को मजबूर हो जाती है।

पाकिस्तानी निम्नवर्गीय समाज में पुरुष के बिना स्त्री किस तरह दरबदर हो जाती है यह संदर्भ कई कहानियों में आता है। इन अदर रूम्स, अदर वंडर्स में हुस्ना हारुनी साहब की दूर की रिश्तेदार है, गरीबी की शिकार होकर उनके पास नौकरी के लिए आती है, बुढ़ापे में अपनी पत्नी से अलग रह रहे जमींदार साहब को हुस्ना के हुस्न में अपना दूर होता अकेलापन दिखाई देने लगता है और हुस्ना को अपनी गरीबी दूर होती दिखाई देने लगती है। लेकिन हुस्ना की किस्मत उसे एक बार फिर दगा दे जाती है। अचानक जनाब के.के. हारुनी का इंतकाल हो जाता है और हुस्ना फिर से गुमनामी और गुरबत में जीने को मजबूर हो जाती है क्योंकि हारुनी साहब ने अपनी जिन्दगी में तो उसे शामिल किया, लेकिन अपनी वसीयत में शामिल करना भूल गए थे। इसलिए उनके मरते ही उसके प्रति उनके रिश्तेदारों की निगाहें बदल जाती हैं।

इसी तरह, ए स्प्वाइल्ड मैन कहानी में रज्जाक हारुनी के भतीजे के पहाड़ी बागानों में काम करता है और उसकी अमेरिकी बेगम का सबसे खास माली बन जाता है। जब उसके पास कुछ पैसा जमा हो जाता है तो वह बुढ़ापे में एक सुंदर लड़की से शादी कर लेता है। एक दिन वह खेतों में काम कर रहा होता है तो अचानक उसकी सुंदर पत्नी गायब हो जाती है और उसका कुछ पता नहीं चल पाता है। कहानी से पता चलता है कि पाकिस्तान के पहाड़ी इलाके में गरीब परिवारों की सुंदर लड़कियों को इलाके के बदमाश उठाकर जबरन चकलाघरों में बेच आते हैं और उनका कभी कुछ पता नहीं चल पाता।

अनेक कहानियों में इस तरह से अचानक आने वाले संयोग के तत्त्व का लेखक ने एक युक्ति की तरह से इस्तेमाल किया है। लेखक इन कहानियों के माध्यम से मानो बताना चाहता है कि पाकिस्तान में वास्तव में आधुनिक समाजों की तरह तर्काधारित कानून का शासन नहीं चलता है, पैसा, पैरवी, भ्रष्टाचार के बल पर चलनेवाले समाज में इसी तरह के संयोग घटित हो सकते हैं। कथा–संग्रह के आरम्भ में लेखक ने एक पंजाबी कहावत को उद्धृत किया है–तीन चीजें ऐसी हैं जिनके लिए हम हत्याएँ करते हैं–जमीन, औरत और सोना। ऐसे समाज में वास्तव में कभी भी कुछ भी घटित हो सकता है। प्रोवाइड कहानी में हारुनी परिवार के मैनेजर को गाँव के किसी किसान की पत्नी पसंद आ जाती है और वह उसे

जबर्दस्ती अपने साथ रख लेता है। कुल मिलाकर, ये कबीलाई समाज की अवशेष सामंती छवियाँ हैं जहाँ कभी भी कुछ भी हो सकता है।

इस संग्रह में यदि एक तरफ पाकिस्तान का गरीब तबका है, जिसकी समाज में इसके सिवाय कोई हैसियत नहीं है कि वह जमींदारों, साहबों के काम आता रहे, उनके रहमो-करम पर जीता रहे। कहानी नवाबदीन इलेक्ट्रिशियन में ग्यारह लड़कियों के पिता नवाबदीन पर जमींदार खुश हो जाता है और उसे मोटरसाइकिल खरीदने के लिए पैसा दे देता है। लेकिन उसके जीवन की यह सबसे बड़ी खुशी अधिक दिन टिक नहीं पाती है। उसी मोटरसाइकिल के कारण एक दिन उसके ऊपर जानलेवा हमला हो जाता है। जमींदारों, फौजियों, अफसरों के अलावा अगर पाकिस्तान में किसी के पास किसी तरह से सम्पत्ति आ भी जाए तो उसके लिए उसे बचाकर रख पाना ही बहुत बड़ी बात होती है। तो दूसरी तरफ पाकिस्तान का वह उच्च तबका है जो लंदन, पेरिस में छुट्टियाँ मनाता है, जिनके बच्चे अमेरिका के प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करते हैं। यह वह तबका है, जिसके लिए नाइट ऑफ सुनामी की थीम पार्टी के लिए इस्लामाबाद में ट्रकों में भरकर बालू मँगाया जाता है ताकि कृत्रिम तौर पर समुद्रतट बनाया जा सके। एक तरफ निम्नवर्ग की स्त्रियों का जीवन है जिसकी कोई कद्र नहीं है, उसके सुरक्षित जीवन के लिए यह बहुत आवश्यक है कि वह किसी पुरुष के सहारे रहे। वहीं दूसरी ओर उच्चवर्ग में लिली कहानी की लिली है जो अपने पिता की अकूत सम्पत्ति की वारिस है, जो अपनी मर्जी से देश-विदेश की पार्टियों में चहकती फिरती है और अपनी पसंद के लड़के से विवाह भी कर लेती है। पाकिस्तानी समाज का यह अंतर्विरोध-विपर्यय, उस समाज की त्रासद विडम्बना है।

दनियाल की कहानियों का उच्च-वर्ग ऊबे हुए लोगों का समाज है। वे पार्टियों में चहकते हैं, लेकिन वास्तव में एक्सटैसी, रॉकेट से लेकर गांजा-हशिश जैसे मादक-द्रव्यों में जीवन का आनंद ढूँढते हैं, भ्रष्टाचार में यह समाज इस तरह डूबा हुआ है कि उनको पाकिस्तान छोड़कर भागना पड़ता है और वे यूरोप में गुमनामी का जीवन जीते हुए ऐय्याशी करते हैं। जमींदार ऐय्याशी में डूबे रहते हैं और उनके मैनेजर, कारिंदों का प्रभुत्व बढ़ता जाता है। प्रोवाइड कहानी में मैनेजर जगलानी विधानसभा का चुनाव जीत जाता है। इसी तरह ए स्प्वाइल्ड मैन कहानी में कारिंदे गुलाम रसूल के बारे में हारुनी के दोस्त कहा करते थे कि उसकी ताकत किसी केंद्रीय मंत्री से अधिक है। लेखक ने इस उच्चवर्ग के खोखलेपन को लेकर अनेक कहानियों में काफी चुटीली टिप्पणियाँ की हैं।

आज इस्लाम, तालिबान, धार्मिक कट्टरता, आतंकवाद, राजनीतिक हत्याएँ, सैनिक तानाशाही, परम्परागत कबीलाई सामाजिक ढांचा आदि कुछ ऐसे पहलू हैं जिनकी वजह से पाकिस्तान के जीवन में पश्चिमी समाज की रुचि ही नहीं बढ़ी है, चिंता भी। शायद यही कारण है कि पाकिस्तान के अंग्रेजी लेखकों की पहचान भी व्यापक स्तर पर मुखर हो रही है। लेकिन दनियाल मुईनुद्दीन की कहानियों में ये सारे तत्त्व नहीं हैं। इन कहानियों में न तो आतंकवाद का कोई संदर्भ आता है, न ही धार्मिक कट्टरता का, जिसका आज पाकिस्तान पर्याय बनता जा रहा है। इसके बावजूद इन अदर रूम्स, अदर वंडर्स की कहानियों की लोकप्रियता बताती है कि जिस तरह से पाकिस्तान के सामंती समाज की विश्वसनीय छवियाँ इन कहानियों में उकेरी गई हैं पाठकों ने उसे पसंद किया है। ये कहानियाँ इस मिथ को भी तोड़ती हैं कि पाकिस्तान के नाम पर आतंक और जेहाद की कहानियाँ लोकप्रिय हो रही हैं।

इन अदर रूम्स, अदर वंडर्स/ दनियाल मुईनुद्दीन/ रैंडम हाउस इंडिया/ मूल्य : 395 रुपये

93, एम्स अपार्टमेंटस, मयूर कुंज, नोएडा चेक-पोस्ट के पास, दिल्ली-110096

महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

चार खण्डों में

हिन्दी साहित्य का मौखिक इतिहास

(स्मृति संवाद)

शोध एवं सम्पादन

नीलाभ

मूल्य
250/- (प्रति खंड)
1000/- (चारों खंड)

एकमात्र वितरक

शिल्पायन

10295, वैस्ट गोरख पार्क,
शाहदरा, दिल्ली-110032

fpj ykafVkHkkjrh; ukjhdhvkokt

dpsjrk

19 मई, 2009। शाम के 5 बजे होंगे। हम सपरिवार मसूरी से लौटते हुए कविमित्र बुद्धिनाथ मिश्र के घर दोपहर का भोजन और गपशप करने के बाद देहरादून रेलवे स्टेशन पर दिल्ली जाने वाली शताब्दी एक्सप्रेस की राह देख रहे थे। अचानक काले बादल घिर आये। ज़ोर की आंधी चली। आजू-बाजू के वृक्षों के धूल भरे पत्ते प्लेटफार्म पर अँटने लगे। तभी-तभी ट्रेन भी आ गई। हम सब अपने डिब्बे की ओर लपके। सामान चढ़वाने में बुद्धिनाथ जी ने भी मदद की। हमने अपनी-अपनी सीट संभाली। गाड़ी चलने में पाँच मिनट बाकी थे। बुद्धिनाथ, मैं और बेटी पुरवा धनश्री प्लेटफार्म पर उतर आए कि तभी बहुत जोर की बिजली तीन बार कड़की। घिरते अँधेरे में स्टेशन एकदम रोशन हो गया। बिजली जो कड़की थी वह बिलकुल शक्तिशाली आतिशबाजी की तरह थी। हमें लगा वह बिजली कहीं आस-पास गिर तो नहीं गई? (अगले दिन दिल्ली से फोन पर बुद्धिनाथ जी से बात हो रही थी तो उन्होंने बताया कि वह बिजली सचमुच रेलवे स्टेशन से सटे परेड ग्राउंड के पास गिरी थी और दो रेहड़ी वाले मर गये थे।) ...कि तभी-तभी मोटे-मोटे ओले पड़ने लगे। पहले से ही टूटे पत्तों से पटा प्लेटफार्म अब अजीब दृश्य पैदा कर रहा था। एक बार फिर बिजली कड़की। उन पत्तों पर बर्फ के चमकते सफेद गोले बिछ गए थे। पत्तों पर पड़े ओले हमें मोटे-मोटे हीरों की तरह दिखे। एक ओला मेरे कंधे पर लगा। उसमें वेग था। कंधे में हलका दर्द भी हुआ।

...गार्ड सीटी दे रहा था, सिग्नल पर हरी बत्ती जल रही थी। मैं और बेटी डिब्बे में चढ़ गए। बेटी की हथेली पर दो ओले थे। गाड़ी सरक रही थी। मैं बुद्धिनाथ जी को विदा दे रहा था। बारिश तेज़ हो रही थी।

अपनी सीट पर दसेक मिनट बैठा ही था कि हठात् मुझे दिल्ली के दोस्तों की याद आने लगी। कई दिन हो गए थे उनसे दूर हुए। मैंने सेल पर नम्बर मिलाया। दूसरी तरफ़ मेरे पुराने मित्र भारत भारद्वाज थे। मैं उन्हें अपने और मौसम में आए औचक बदलाव के बारे में बता ही रहा था कि वे बोले-भाई, बुरी ख़बर है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा नहीं रहीं। कल रात उनका निधन हो गया। सहसा मेरी आँखों से दो मोटी बूँदें ढलकीं और मेरे चेहरे पर बह गईं। पत्नी ने यह देखा तो चिन्तित होकर पूछा क्या हो गया? मैंने रुंधे गले से बताया-भारत जी ने फोन पर बताया है कि अम्मा चंद्रकिरण नहीं रहीं। (हम घर में उन्हें अम्मा चन्द्रकिरण ही कहते थे।) सुनकर पत्नी भी उदास हो गईं। मुझे डॉ. रामविलास शर्मा के शब्द याद हो आए। और ये शब्द तब के हैं जब चन्द्रकिरण सौनरेक्सा सुप्रसिद्ध नहीं हुई थीं-''वह सब चन्द्रकिरण के उपन्यास 'चंदन चांदनी' में है, जिससे हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासों में

उसकी गिनती होगी। अंधेरे बंद कमरों में घुटने वालों को इससे प्रकाश की एक किरण भी मिलेगी। ...'वंचिता' उपन्यास की पात्र 'गरिमा' की आवाज नवजागृत, अपने स्वत्वों के लिये लड़ने वाली चिर वंचिता... फिर भी चिर लांछिता भारतीय नारी की आवाज है।''

हाल ही में दिवंगत वयोवृद्ध कथाकार-उपन्यासकार विष्णु प्रभाकर ने भी तो पहले कहा था-''महादेवी जी ने जो प्रसिद्धि कविता-क्षेत्र में प्राप्त की है, चंद्रकिरण जी ने वही कहानी के क्षेत्र में पायी। मध्यवर्ग की नारी का जितना यथार्थ चित्रण उनकी कहानियों में हुआ है, उतना कदाचित ही किसी कथाकार की कृतियों में हुआ हो।''

...फोन पर, उधर दिल्ली से पुस्तक-वार्ता के संपादक याद दिला रहे थे, ''तुम्हें याद है न!...'' उन्होंने आगे भी कुछ कहा होगा मगर मैंने वह नहीं सुना। मैं देखने लगा कुछ दृश्य...। 21 मई 2008, दूरदर्शन केंद्र, नयी दिल्ली की नयी बिल्डिंग... कोपरनिकस मार्ग पर स्थित दूरदर्शन भवन टावर-टू... का पोर्च। स्लेटी रंग की कार वहाँ रुकती है। ड्राइवर लपक कर कार की डिक्की खोलता है। उसमें से व्हीलचेयर निकालता है। व्हीलचेयर सरकाई जाती है। गाड़ी का गेट खुलता है। ड्राइवर और एक अधेड़ व्यक्ति गाड़ी के भीतर से एक वयोवृद्धा को बाँहों में उठाकर बाहर लाते हैं और व्हीलचेयर पर बिठाते हैं। फॉयर में आने के लिये तीन-चार सीढ़ियाँ चढ़नी होती हैं। मामला समझ कर गेट पर खड़ी महिला सेक्युरिटी-गार्ड भी व्हीलचेयर की तरफ़ लपकती है। एक और महिला, जो गाड़ी से ही उतरी थी, वह भी मदद करती है। चार जने व्हीलचेयर उठाकर फॉयर के फ़र्श पर रखते हैं।

व्हीलचेयर को अब वह अधेड़ व्यक्ति स्टूडियो की तरफ़ खिसकाने वाला ही था कि तीन व्यक्ति बारी-बारी से वृद्धा के पैर छूते हैं और अपना परिचय देते हैं। ये तीन व्यक्ति थे मैं, भारत भारद्वाज, साधना अग्रवाल। वे हिंदी की वरिष्ठ कथाकार उपन्यासकार श्रीमती चन्द्रकिरण सौनरेक्सा थीं। तब वे 87वें वर्ष में चल रही थीं। 2008 में ही उनकी आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' छपी थी और उसकी बहुत चर्चा हुई थी।

भारत जी ने ही मुझे सलाह दी कि मैं वयोवृद्ध लेखिका चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की रिकॉर्डिंग करूं। फोन नम्बर जुटाकर हमने उनसे संपर्क साधा। उनके पुत्र से बात हुई। फिर उनसे भी बात हुई। वे रिकॉर्डिंग के लिय तैयार थीं। हमने वाहन भेजना चाहा, उन्होंने मना कर दिया। वे अपने ही वाहन से आईं। साथ में थे उनके पुत्र और पुत्रवधू। चन्द्रकिरण जी अपने बेटे के साथ नयी दिल्ली की एअर फोर्स एण्ड नेवल ऑफीसर्स एनक्लेव, द्वारका में रह रही थीं।

चन्द्रकिरण जी की रिकॉर्डिंग होनी थी। बातचीत पहले तो 30 मिनट के लिये तय हुई थी, लेकिन रिकॉर्डिंग के दौरान होने वाली बातें इतनी दिलचस्प और प्रवहमान थीं कि रिकॉर्डिंग-पैनल से, जहाँ से मैं रिकॉर्डिंग-संचालन-निर्देशन कर रहा था, मैंने हैडसेट के जरिये स्टूडियो में फ्लोर मैनेजर के माध्यम से संदेश भिजवाया बातचीत चलने दें, जब तक चले। और वह बातचीत लगभग 2 घंटे तक चली। दूरदर्शन का एक रेकार्ड।

इस बातचीत के दौरान चंद्रकिरण सौनरेक्सा के सम्पूर्ण साहित्य पर गंभीरता से विचार हुआ और आगे भी होगा। आलोचक शिवदान सिंह चौहान ने उनके लेखन को उच्च कोटि का माना था। कथाकार-संपादक श्रीपत राय ने कहा था निम्न-मध्यवर्ग के घरों का, विशेषकर स्त्रियों का, इतना स्वाभाविक और पैना चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। अज्ञेय जी का विचार था तीव्रता की दृष्टि से चन्द्रकिरण सौनरेक्सा सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं। मध्यवर्गीय जीवन में पाखण्डों, स्वार्थों और आकांक्षाओं पर वे इतनी गहरी चोट करती हैं कि पाठक तिलमिला उठे।

ख़ुद चंद्रकिरण सौनरेक्सा ने अपने लेखक के बारे में कहा है कि समाज और साहित्य से उनका परिचय एक लेखिका के रूप में है। सब कहते-मानते हैं कि उनका लेखन मध्यवर्गीय समाज की समस्याओं और विषमताओं को इंगित करता है। अनेक पाठकों और परिचितों की यह जिज्ञासा रही कि उन्होंने मुख्यतया कथा साहित्य को अपने जीवन का ध्येय क्यों बनाया? वे कहती हैं ''...मैं देश के निम्नवर्गीय समाज की उपज हूं। मैंने स्वयं देश के बहुसंख्यक समाज को विपरीत परिस्थितियों से जूझते, कुम्हलाते और समाप्त होते देखा है। वह पीड़ा और सामाजिक आर्तनाद ही मेरे लेखन का आधार रहा है। ...मैंने पीड़ाओं को देखा और जिया है। यही, जीवन का सत्य आत्मसात होकर मेरे लेखन का आधार बने।''

'पिंजरे की मैना' आत्मकथा के संदर्भ में उनका कहना है ''पिछहत्तर साल का लेखन-काल पिंजरे की मैना आत्मकथा के साथ संपूर्ण होता है और यह मेरी छियासी साल की जीवन-यात्रा का वास्तविक दस्तावेज है।'' 1931 में ग्यारह वर्ष की किशोरावस्था में दलित लड़के के विषय में लिखी उनकी पहली रचना अछूत कलकत्ता के मासिक विजय में छपी थी। अल्पायु में ही उन्होंने गीत भी लिखे थे। कुछ पंक्तियाँ देखें

अवतार
महात्मा गांधी हैं
भारत का भाग्य बनाने को
ज़रा कृपा की बेल भी लगा देना
चरखे की तोप चला कर तुम
पूनी का गोला लगा कर तुम
मैनचेस्टर-लंकाशायर की
सारी ही मिलों को उड़ा देना...

ऐसी ही अनेक तुकबन्दियों में उनका बाल-मन विकसित हुआ और वे जीवन के ताप में ताये समय के भीतर एक प्रभावी कथाकार बनती चली गईं।

अपनी कहानियों और उपन्यासों में वे अनेक स्थलों पर स्वयं उपस्थित हैं अनेक पात्रों के रूप में। भद्र मध्यवर्गीय परिवेश में रहते हुए भी पारिवारिक और सामाजिक स्तर पर उन्होंने अनेक कष्ट सहे, अपमान भोगा। लेकिन अपनी लेखकीय ईमानदारी के चलते उन्होंने अपना और अपने परिवेश

का सच बिना छिपाये अपनी रचनाओं में रख दिया और पिंजरे की मैना तो इसकी ज्वलंत मिसाल है।

उनकी रचनाएँ भारतीय भाषाओं में तो अनूदित हैं ही, कई प्रमुख विदेशी भाषाओं में भी। अपने देश के कितने विश्वविद्यालयों में उन्हें कितना पढ़ाया जाता है, नहीं मालूम, लेकिन दुनिया के कई विश्वविद्यालयों में उन पर अध्ययन और शोध-कार्य हो रहे हैं।

...तो 21 मई 2008 को शाम लगभग 6 बजे रिकॉर्डिंग के बाद उन्होंने स्टूडियो के पूरे स्टाफ (20-25 व्यक्ति) को स्नेहाशीष दिया, ''तुम सब तो मेरे पोते-पोती हो।'' उन्होंने मुझे 'पिंजरे की मैना' की एक प्रति सस्नेह दी, अपने हस्ताक्षर के साथ। ...बाद में यह रिकार्डिंग दूरदर्शन के विभिन्न कार्यक्रमों में चार किस्तों में प्रसारित हुई और उनके निधन के बाद फिर 31 मई से हर रविवार की रात डी.डी. भारती के 'सृजन' कार्यक्रम के अंतर्गत हो रहा है।

देहरादून स्टेशन पर जो विकराल बिजली कड़की थी, रूपक ही बनाऊं तो कहूं वह जैसे किसी पिंजरे को तोड़कर असीम में उड़ती किसी मैना की आत्मा में विलाप करती कोई रुदाली थी, जो उनके उस शांत स्निग्ध चेहरे से बिल्कुल मेल नहीं खाती थी, जिसे हमने देखा था, एक मां के रूप में भी...।

धड़-धड़ धड़कती धरती की आवाज़

जन-कवि फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ का शुमार उन अज़ीम शायरों में होता है जिनकी शायरी ने अवाम में न सिर्फ़ प्रगतिशील संस्कारों का समावेश किया बल्कि निरंकुश सत्ता को चुनौतियाँ दीं और बग़ावत का बिगुल बजाया। विश्व-साहित्य में ऐसे कई लेखक-कवि हुए हैं और आज भी हैं जिन्होंने अपने लेखन और विचारों से जुल्म की बुनियाद पर खड़े शासन को सीधी टक्कर दी है और बड़ी-बड़ी क़ीमतें चुकाई हैं। फ़ैज़ ऐसे ही शायर थे। उन लोगों की बुद्धि पर तरस आता है जो जब भी मौक़ा मिले, कहते पाये जाते हैं कि साहित्य कविता, कहानी, नाटक से समाज में परिवर्तन नहीं होते। रूसी क्रांति के बाद लेनिन ने टोल्सटॉय और गोर्की के बारे में कहा था कि इनका साहित्य न होता तो समाजवादी क्रांति संभव न होती। सभी जानते हैं कि ये दोनों लेखक न कम्युनिस्ट विचारधारा के थे और न ही पार्टी मेम्बर। फिर वे कौन से तत्व थे उनके साहित्य में, जो परिवर्तनकारी अभियान की ताक़त बने। ये तत्व थे अन्याय और शोषण का विरोध, इंसानी हक़ूक़ात के पक्ष में लेखकीय प्रतिबद्धता।

लेकिन विद्रोही, साहसी, जनपक्षधर लेखकों के प्रसार और लोकमान्यता में जो तंत्र, व्यक्ति, कलाकार, मंच, पत्र-पत्रिकाएँ, प्रकाशक, प्रसारक सहायक होते हैं और माध्यम बनते हैं उनकी भूमिका कमतर नहीं होती। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की रचनाओं को, विशेषकर जनपक्षीय और शासन विरोधी रचनाओं को जिन कुछ प्रमुख गायक-गायिकाओं ने विस्तार दिया उनमें पाकिस्तान की मशहूर शास्त्रीय-उपशास्त्रीय गायिका इक़बाल बानो प्रमुख थीं। 21 अप्रैल 2009 को लम्बी बीमारी के बाद उनका निधन हो गया। उन्होंने सभाओं में गाया, महफ़िलों में गाया, उस्तादों और गुणीजनों के बीच गाया, रेडियो पर गाया और फ़िल्मों में भी गाया। लेकिन अफ़सोस! अपने मकान के पास गार्डन टाउन में, जहाँ वे सुपुर्देख़ाक हुईं, उस वक़्त उनके परिवार के कुछ लोग और कुछ पड़ोसी ही थे। हाँ, एक लोक गायक शौकत अली ज़रूर वहाँ थे। संगीत और फ़िल्म की दुनिया से तो कोई भी नहीं था। यह ज़रूर है कि बाद में पाकिस्तान की नेशनल असेंबली और सिंध प्रांत की असेंबली में उनकी आत्मा के लिए प्रार्थना की गई। मुझे याद नहीं पड़ता हमारे देश के किसी शीर्ष नेता या संस्था ने उनके सम्मान में कुछ कहा हो या किया हो। फ़ैज़ की शायरी ने पाकिस्तानी तानाशाहों को हिलाकर रख दिया था। फ़ैज़ को कई बार जेल हुई, कई बार देश निकाला। 1982 में वे कई वर्षों के निष्कासन के बाद, अंतरराष्ट्रीय दबाव के चलते पाकिस्तान लौटे तो लिखने-पढ़ने वालों, कलाकारों, नौजवानों और आम जनता में ख़ुशी की लहर दौड़ गई। फ़ैज़ काफ़ी थक गये थे मगर उनकी शायरी के तेवर मंद नहीं हुए थे। मगर 84 में वे मुल्क़े अदम की राह पर चले गये अपने पीछे अपने करोड़ों चाहने वालों को छोड़ कर। मृत्यु के बाद उनकी शायरी और भी ज़्यादा आक्रामक साबित हुई। उनकी रचनाओं पर सरकार की सख़्त पाबंदी थी। फ़ैज़ को सैनिक जुन्ता अपना शत्रु मानती थी। मगर आज़ादी-पसंद जनता कभी नहीं डरती। मर-मर कर भी वह कभी नहीं मरती। 1985 में यही एक बार फिर दोहराया गया। फ़ैज़ का जादू पूरे पाकिस्तान ही नहीं, हिंदुस्तान, ईरान, लेबनान तक में सर चढ़ कर बोल रहा था।

फ़ैज़-प्रेमियों ने (जिनमें लेखक-संगीतकार-फ़िल्मकार-नाटककार-कलाकार, अध्यापक, विद्यार्थी, नौजवान, वक़ील, डॉक्टर, इंजीनियर... सब थे) लाहौर में फ़ैज़ समारोह आयोजित किया। लाहौर के बड़े स्टेडियम में 50 हज़ार फ़ैज़-प्रेमी इकट्ठा हो गये क्योंकि मशहूर गायिका इक़बाल बानो फ़ैज़ के कलाम को गाने वालीं थीं। कुर्सियाँ तो भर ही गईं, हज़ारों लोग या तो खड़े रहे या ज़मीन पर बैठ गये।

पूरा पाकिस्तान जनरल ज़ियाउल हक़ के जुल्मो सितम से परेशान था। लोगों के मन-ज़हन में ग़ुस्सा था। इक़बाल बानो के गले से फ़ैज़ के शब्द हवा में तैरने वाले थे। पाकिस्तान में साड़ी पर पाबंदी थी। उसे हिन्दुस्तानी लिबास माना जाता था। मगर पाकिस्तान-हिन्दुस्तान की सियासी लक़ीरें शायरों-कलाकारों के दिल-दिमाग़ में नही होतीं। वहाँ आपुनजन का रहन-सहन-बोली-बानी होते हैं। ...इक़बाल बानो मंच पर आईं। उन्होंने साड़ी पहनी हुई थी। उन्होंने भीड़ के सामने हाथ हिलाकर उसका अभिवादन किया। भीड़ ने भी हाथ हिलाये। ज़िन्दाबाद की आवाज़ें बुलंद होने लगीं। और अंततः उभरी एक बुलंद आवाज़-

हम देखेंगे, लाज़िम है कि हम भी देखेंगे... हम देखेंगे

वो दिन के, जिसका वादा है, जो
लौहे-अज़ल[1] में लिक्खा है
हम देखेंगे...
जब ज़ुल्मों-सितम के कोहे-गरां[2]
रूई की तरह उड़ जाएँगे
हम महकूमों[3] के पांव तले जब धरती
धड़-धड़ धड़केगी
और अहले-हिकम[4] के सर ऊपर
जब बिजली कड़-कड़ कड़केगी...
जब अर्ज़-ए-ख़ुदा[5] के काबे से
सब बुत उठवाये जाएँगे
हम अहले-सफ़ा[6], मर्दूद-ए-हरम[7]
मसनद पे बिठाये जाएँगे
सब ताज उछाले जाएँगे
सब तख़्त गिराये जाएँगे
बस नाम रहेगा अल्लाह का, जो ग़ायब
भी है, हाज़िर भी
जो मंज़र[8] भी है, नाज़िर[9] भी
उट्ठेगा अनलहक़[10] का नारा
जो मैं भी हूं और तुम भी हो
और राज करेगी ख़ल्के-ख़ुदा[11]
जो मैं भी हूं और तुम भी हो...
हम देखेंगे...

7-8 मिनट गाई जा सकने वाली यह नज़्म इक़बाल बानो ने 20-25 मिनट में समाप्त की। कारण: फ़ैज़ के शब्दों को बार-बार दोहराने से सुनने वालों में अर्थवत्ता के विस्तार का सुख... एक-एक शब्द पर तगड़ा रेस्पांस... बीच-बीच में श्रोताओं के नारे इंकलाब ज़िंदाबाद... क्रांति की चमक... गगनभेदी जन-विप्लव-स्वर... नतीजा ये हुआ कि उस दिन से फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की वह नज़्म तराना-ए-पाकिस्तान बन गई।

भारत-ईरान-पाकिस्तान-अफ़ग़ानिस्तान और विश्व-समुदाय में फ़ैज़ की आवाज़ बुलंद करने वाली इक़बाल बानो जनांदोलनों का केन्द्रीय सुर बन गईं। यही नहीं, उन्होंने फ़ैज़ के अलावा अन्य प्रगतिशील कवियों को भी गाया। वे ख़ुद भी खुले विचारों की थीं। उन्होंने विभाजन को कभी भी मानसिक स्वीकृति नहीं दी। इसे वे सियासी फालतूपन मानती थीं।

इक़बाल बानो का जन्म 1935 में रोहतक में एक साधारण परिवार में हुआ। बचपन से ही कंठ सुरीला था। पिता ने बढ़ावा दिया और बालिका इक़बाल बानो को दिल्ली घराने के उस्ताद चांद ख़ां के पास सीखने भेजा। उन्होंने जी लगाकर सीखा। ठुमरी और दादरा गायन में पारंगत होती गई। ऑल इंडिया रेडियो पर बाली उमर में गाने वाली वे शायद बेगम अख़्तर के बाद पहली गायिका थीं। 1952 में महज़ 17 वर्ष की उम्र में उनका परिवार पाकिस्तान के मुल्तान में जाकर बस गया। 1957 में लाहौर से उनके विधिवत सार्वजनिक गायन की शुरुआत हुई और वे जल्दी ही उपशास्त्रीय गायकों की पहली पंक्ति में शुमार हो गईं। 60-70 के दशक में वे मशहूर ग़ज़ल गायिकाओं में प्रतिष्ठित हुईं। उपमहाद्वीप में 20वीं शताब्दी में ग़ज़ल गायकी ने नये आसमान छुए और हमें गौहरजान, ज़ोहराबाई अंबाले वाली, अख़्तरी फैज़ाबादी (जो बाद में बेगम अख़्तर के नाम से मशहूर हुई), नूरजहाँ, शमशाद बेगम, राजकुमारी दुबे, सुरैय्या, इक़बाल बानो, लता मंगेशकर, मुहम्मद रफ़ी, मलका पुखराज, आशा भोसले, मेंहदी हसन, फरीदा खानम, ग़ुलाम अली, नुसरत फतेह अली ख़ां, जगजीत सिंह, रूना लैला, सबीना यास्मीन, चंदन दास, तलत अज़ीज़, मुहम्मद हुसैन अहमद हुसैन बंधु, पंकज उधास... हरिहरन... अनेक नाम हैं। इन सबने एक से बढ़कर एक अच्छे शायर की रचनाओं को जन-जन तक पहुंचाया। यक़ीनन इसमें रेडियो, टेलिविज़न और फ़िल्मों की ज़बर्दस्त भूमिका रही।

इक़बाल बानो को याद करना बड़ी शायरी को याद करना है। स्त्री-स्वर के ज़रिये स्त्री-शक्ति की ताक़त को पहचानना है, हक़ की लड़ाई में साहित्य और कलाओं के योगदान को समझना-जानना है।

उनकी आवाज़ जन-समुद्रों की मौजों की मानिंद लरज़ती, गरजती, ललकारती आवाज़ थी। उनकी आवाज़ महान शायरों की रूह की आवाज़ थी।

उन्हीं ने गाया था-

उस क़दर प्यार से ऐ जाने जहाँ, रखा है
दिल के रुख़सार पे इस वक़्त तेरी
याद ने हाथ...

फ़ैज़ के इन और अनेक शब्दों की गूंज और इक़बाल बानो के सुरों की सरसराहट हर आज़ाद ख़याल इंसान की ज़रूरत आज भी है, कल भी रहेगी।

कृष्ण-विवर (ब्लैक होल) की आवाज़ : आपके कानों के पास...

एक अमरीकी विज्ञान पत्रिका ने आंकड़े और तथ्य देकर यह दावा किया है कि वह दिन दूर नहीं जब हम ब्लैक होल की आवाज़ों को सुन सकेंगे। निकट भविष्य में ब्रह्मांड-संवाद और ब्रह्मांड-संगीत आसानी से सुना जा सकेगा। प्रोफेसर स्टीफन हॉकिंग ने अपनी पुस्तक ए ब्रीफ़ हिस्ट्री ऑफ टाइम में पहले ही इसके संकेत दे दिये थे।

ब्रह्मांड में आवाज़ों का विशाल-विराट संजाल है। इन आवाज़ों को छांटने का काम पिछले 50 वर्षों से भी अधिक से चल रहा है और अब सफलता दूर नहीं है। एक सुपर कम्प्यूटर की रचना हो चुकी है। इसका विकास सिराकुज विश्वविद्यालय के भौतिक विभाग द्वारा किया गया। यह केवल अमरीकी के ही लिये नहीं, विश्व-ज्ञान-समाज के लिये भी गर्व की बात है।

प्रोजेक्ट के प्रमुख शोधकर्ता प्रो. डंकन ब्राउन ने कहा है कि यह सुपर कम्प्यूटर पहले लेज़र इंटरफेरोमीटर ग्रेविटेशनल वेव ऑब्ज़र्वेटरी से मिलने वाले व्यापक आंकड़ों को हासिल करेगा, फिर उसमें से कृष्ण-विवर से आने वाली ध्वनियों को अलग करेगा। गुरुत्वाकर्षणीय तरंगों का सुनना, ब्रह्मांड में मौजूद तमाम तरह की ध्वनियों को सुनने के बराबर ही होगा। याने हर प्रकार की ध्वनियों को अलग-अलग और

---

1. पहले से लिखित भाग्य लेख, 2. भारी पहाड़, 3. दलितों, 4. सत्ताधारियों, 5. ईश्वर की ज़मीन, 6. खरे लोग, 7. कट्टरपंथियों द्वारा निंदित, 8. दृश्य, 9. दर्शक, 10. मैं सत्य हूं, सूफी संत मंसूर का नारा और भारतीय अद्वैत सिद्धांत के अनुसार-सर्वम्खल्विदम, ब्रह्म:, 11. जनसमूह

साफ़-साफ़ पहचानना संभव होने वाला है।

क्या होंगी ये ध्वनियाँ? हवा, वर्षा, पानी, वनस्पतियाँ, पेड़-पौधों, वन्य जीव जन्तु-आदिमानव, उसके बाद विभिन्न विकास-यात्राओं को पार करता जन-समुदाय, भाषाएँ, संगीत, नृत्य, रोना-धोना-हँसना-गाना...प्रार्थनाएँ...क्रोध-प्रेम, ममता... विज्ञान... इतिहास... भूगोल... गृह-वाणियाँ, समूह-सम्वाद, एकालाप, प्रेम-निवेदन, युद्ध के घोष, जयजयकार... न जाने क्या-क्या, जो ईथर में जीवित है, सब सुन लिया जायेगा! कैसा समय होगा वह, जब हम सैंकड़ों-हज़ारों, लाखों-करोड़ों पूर्व के पूर्वजों के वचन, सम्वाद, उद्घोष सुनेंगे... और विलुप्त-अज्ञात-लुप्त साहित्य-संगीत। हम सुन सकेंगे स्वामी हरिदास का गायन... गोविन्द स्वामी और तानसेन का गायन। स्वामी वाहिद काज़मी का कहना है यह सब संभव हो जायेगा तो फिर मांड की बेगम रूपमती और ओरछा की नर्तकी प्रवीणराय के स्वरों में फर्क भी उजागर किया जा सकेगा।

याद आते हैं उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ां के शब्द। निधन के कुछ ही पहले तो उन्होंने कहा था-जो बीत जाता है वो गुज़र नहीं जाता, कायनात में रह जाता है। रह जायेगा सब कुछ इस आसमान पै।

मनुष्य की, उसके ज्ञान, शोध, कर्म की, रचना की यात्रा जारी है... निर्बाध!!

अंतरराष्ट्रीय भाषा-वर्ष (2009)

संयुक्त राष्ट्र संघ ने 2009 को अंतरराष्ट्रीय भाषा-वर्ष के रूप में मनाने का अभियान चलाया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपने एक अध्ययन में कहा कि पूरी दुनिया में क़रीब 6780 भाषाएँ बोली जाती हैं और इनमें से 6432 ऐसी हैं जिन्हें 1.50 करोड़ लोग बोलते हैं। 585 करोड़ लोग ऐसे हैं जो 268 भाषाएँ बोलते हैं। भूमंडलीकरण की चपेट में आकर 6432 भाषाएँ अपने अस्तित्व का संकट झेल रही हैं। आंचलिक भाषाएँ अपनी संस्कृतियों, इतिहास और जीवन शैलियों समेत डूब रही हैं। नये सूचना-तंत्र ने विश्व-सभ्यता को निगलने का विकराल संजाल खड़ा कर दिया है।

एक आकलन के अनुसार सन 2021 तक 96 प्रतिशत भाषाएँ और उनकी लिपियाँ गायब हो चुकी होंगी। दुनिया की क़रीब 234 लोकभाषाएँ दुर्लभ कही जाने लगी हैं। 2500 से अधिक बोलियाँ समापन की ओर हैं। इनके लोप का मतलब इनमें समाहित कथाएँ, ज्ञान, लोक-गीत-संगीत, प्राकृतिक-ज्ञान भी लुप्त हो जाएँगे। दुनिया के कई पुराने बीज, जड़ी-बूटियाँ, औषधियाँ पहले ही नष्ट हो चुकी हैं। ...यह सब मानव-इतिहास में, प्राकृतिक विपदाओं के कारण पहले भी हुआ है। बच रहते रहे कुछ शिलालेख जिन्हें पढ़ना कठिनतर होता गया। सिंधु लिपि भी पूरी-पूरी कहाँ पढ़ी गई है? 1974 में जब मैंने सिंधु-सभ्यता पर डॉक्युमेंट्री बनाई थी, तब तक एक प्रतिशत भी सिंधु लिपि पढ़ी नहीं जा सकी थी। यद्यपि शोद्यकार्य आज भी चल रहा है। आज जो भाषा-संस्कृति का पतन और क्षरण हो रहा है तो इसके पीछे विश्व-व्यापार संगठनों का वर्चस्व है। बाज़ार है। जिस बाज़ार की जो भाषा, विकास उसी भाषा का होगा, बाकी सब बेकार। अपनी कलाओं, साहित्य, नृत्य-संगीत-लोक-परम्पराओं, मुहावरों, नाट्य-रूपों, तीज-त्यौहारों को बचाना है तो विश्व को अपनी भाषाओं को भी बचाना होगा, वरना तो हम एक सर्वाधिक अविकसित, ज्ञानहीन, रसहीन, संवेदनाहीन, प्रकृतिहीन बुतों के संसार में बदल जाएँगे। इस पर सोचने और कुछ करने की ज़िम्मेवारी सबकी है।

मुकुल शिवपुत्र का पुनर्जीवन

यह एक तरह से सच ही है कि हाल में महान गायक कुमार गंधर्व के सुपुत्र और अनूठे सुर-ज्ञान के मालिक मुकुल शिवपुत्र का पुनर्जीवन शुरू हुआ। पत्नी के निधन के बाद अनेक वर्षों से अनेक बार वे विक्षिप्त हुए, कष्ट भोगा। कई बार पटरी पर आये, फिसल गये। वर्षों गायब रहे। वापस आये,

फिर लुप्त हो गये। इधर लम्बे अंतराल के बाद होशंगाबाद रेलवे स्टेशन पर दीन-हीन अवस्था में, लगभग अचेत पाये गये। इसके पहले उन्हें भोपाल में भीख मांगते भी देखा गया था।

होशंगाबाद रेलवे स्टेशन पर कुछ लोगों ने उन्हें पहचान लिया। प्रशासन चुस्त-दुरुस्त हुआ। उन्हें भोपाल लाकर गांधी भवन के नशा-मुक्ति केंद्र में रखा गया। इलाज का असर हुआ। वे तंदुरुस्त हो गये। और उन्होंने इच्छा ज़ाहिर की कि ख़याल गायकी की उचित शिक्षा का केंद्र स्थापित हो, जहाँ रहकर वे गुरु-शिष्य परंपरा के अनुसार काम करना चाहेंगे। राज्य सरकार ने उनके उद्गारों का सम्मान किया। 18 मई 2009 को भोपाल स्थित मुल्ला रमूजी भवन में ख़याल गायकी केंद्र की स्थापना की गई और मुकुल शिवपुत्र को उसका प्रमुख गुरु बनाया गया। इस बार मुकुल शिवपुत्र सचमुच परम संतुष्ट और आश्वस्त लगे।

इस मौके पर मुकुल शिवपुत्र ने ध्रुपद गायकी के तमाम गुरुओं को सम्मानपूर्वक याद किया और बड़े ही चैन के साथ अपनी गायकी प्रस्तुत की। उन्होंने समां बांध दिया। कहा गया कि वर्षों बाद मुकुल ने ऐसा निर्व्याज गायन प्रस्तुत किया। उनका ऐसा ही गायन मैंने वर्षों पूर्व तानसेन समारोह में, ग्वालियर में सुना था और दो वर्ष पहले अशोक वाजपेयी के प्रयत्नों से, इंडिया इंटरनेशनल सेंटर-एनेक्सी में। मुकुल शिवपुत्र निरोग रहें, ऐसी कामना सभी करते हैं।

159, आकाश दर्शन अपार्टमेन्ट्स, मयूर विहार, फेज़-1 दिल्ली-91

साहित्य-कोलाहल

साहित्य कोलाहल

yanuesa iqjrdesyk

लंदन के ब्रिटिश कौंसिल लांउज अर्लकोर्ट में आयोजित तीन दिवसीय (20-22 अप्रैल) पुस्तक मेले का मार्केट फोकस इस बार भारत पर था, इसलिए भी भारत से विभिन्न एजेंसियों के निमंत्रण-सहयोग-समर्थन से लगभग 45 भारतीय लेखक-कवि इसमें शामिल हुए। वैसे तो इस मेले में अनेक परिसंवाद हुए, लेकिन 'भाषा की शुद्धता' पर केन्द्रित परिसंवाद बेहद दिलचस्प था। घूम-फिर कर बात भारतीय अंग्रेजी की क्षेत्रीय भिन्नता पर आ गई। जब हर कोई भारत में बोली जाने वाली अंग्रेजी भाषा के अलग-अलग व्यवहार का उदाहरण दे रहा था, 'चौरंगी' जैसे उपन्यास के लोकप्रिय लेखक शंकर ने टिप्पणी की, 'क्या आपको नहीं लगता, फ्रेंच की तरह ही हमें भी एक भाषा पुलिस (लैंग्वेज पुलिस) की जरूरत है?' शुरू में तो सबको लगा कि वे मजाक कर रहे हैं, लेकिन जब उन्होंने कहा कि इस बात की आवश्यकता है कि अंग्रेजी का दुरुपयोग जिस तरह हो रहा है, नहीं किया जाए। सुनकर लोग चुप हो गए। लोगों की आशंकाएँ तब दूर हुईं जब बांग्ला लेखक ने कहा कि यह विचार उत्तम होगा कि एक ब्रिटिश टीम दिल्ली, मुम्बई और कलकत्ता में बोली जाने वाली अंग्रेजी की स्तरीयता की जांच करने को भेजी जाए, जो अच्छे तरीके से भाषा की गुणवत्ता की परख कर सके। नंदन नीलेकानी घबराते हुए बोले, शंकर लैंग्वेज पुलिस पर अब ज्यादा ही हो गया, प्लीज।

भारतीय कवि द्वारा ऑक्सफोर्ड में दस्तक

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेजी और विदेशी भाषाओं के प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष के रूप में कार्यरत अरविंद कृष्ण मेहरोत्रा न केवल अंग्रेजी साहित्य में अपनी पहचान बना चुके हैं बल्कि आक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय के 'प्रोफेसर ऑफ पोएट्री' के लिए भी नामांकित हुए। उनके प्रतिद्वंद्वी थे नोबेल पुरस्कार विजेता डिरेक वाल्कोट और रूथ पेडेल। तथाकथित हार्वर्ड विश्वविद्यालय की एक छात्रा के साथ यौन शोषण के आरोप के कारण डिरेक को चुनाव से पहले ही नामांकन वापस लेना पड़ा। 16 मई को हुए चुनाव में भारी मतों से रूथ पेडेल की जीत हुई। लेकिन चुनाव के कुछ ही दिन बाद यह रहस्य उजागर हुआ कि रूथ पेडेल ने ई-मेल के जरिए डिरेक वाल्कोट के खिलाफ झूठा आरोप लगाया था। फलतः रूथ को अपने पद से इस्तीफा देना पड़ा। 29 मई को सम्भावित चुनाव में फिर से 79 वर्षीय नोबेल पुरस्कार विजेता डिरेक वाल्कोट और प्रो. मेहरोत्रा की किस्मत का फैसला होगा। मेहरोत्रा इन दिनों देहरादून में कबीर की कविताओं के अनुवाद करने और अंग्रेजी और मराठी के कवि अरुण कोलटकर पर किताब लिखने में लगे हैं।

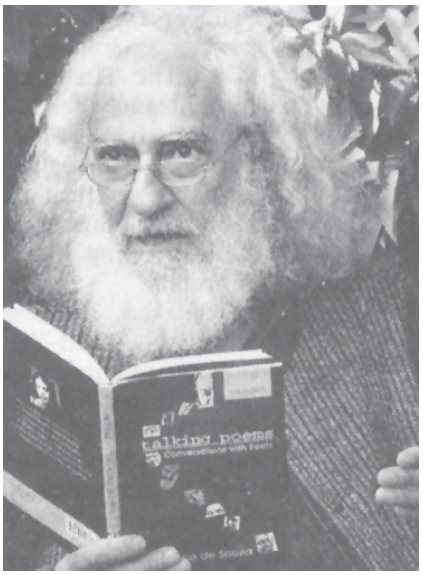

अरविंद कृष्ण मेहरोत्रा

साहित्यकार की विरासत

यूँ तो भारत में भी दुनिया के अन्य देशों की तरह ही महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक दस्तावेजों और अनमोल दुर्लभ, खुदाई में प्राप्त प्रायः प्राचीन ऐतिहासिक अवशेषों को संजोने के लिए अभिलेखागार और संग्रहालय तो हैं लेकिन कवि-लेखक के जीवन और लेखन से सम्बन्धित सामग्री को भावी पीढ़ी के लिए सुरक्षित रखने का कोई जरिया नहीं है। यही कारण है कि अपने पूर्वज लेखकों की स्मृति-स्मारक, निवास, पांडुलिपि और पत्र को हम सुरक्षित नहीं रख पा रहे। पिछले दिनों दिल्ली के एक प्रकाशक संस्थान को फिराक गोरखपुरी के मानस पुत्र माने जाने वाले रमेश द्विवेदी ने फिराक साहब द्वारा व्यवहार में लाई जाने वाली कुछ वस्तुएँ और उनकी कुछ पांडुलिपियाँ सौंपी हैं। यह खेदजनक है कि लेखक की विरासत संभालने का नैतिक दायित्व जबकि राष्ट्र पर होता है, छुट-पुट ढंग से व्यक्ति, प्रकाशन संस्थान या

फिराक गोरखपुरी

विश्वविद्यालय यह काम कर रहा है। भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय को इस दिशा में पहल करने की जरूरत है।

इंग्लैंड की राजकवि

पिछले दिनों 53 वर्षीया ब्रिटिश साहित्यकार कैरल एन डफी को इंग्लैंड का राजकवि घोषित किया गया है। 340 वर्षों के इतिहास में यह पहला मौका है जब कोई महिला इंग्लैंड की राजकवि बनी है। कवयित्री डफी की 1990 में प्रकाशित पुस्तक 'द वर्ल्ड वाइफ' में इतिहास और मिथकों में प्रचलित कुछ ऐसी महिलाएँ हैं, जिनको उन्होंने अपनी कविताओं में गौरवान्वित किया है। राजकवि का कार्यकाल 10 वर्षों का होता है। डफी ने राजकवि नियुक्त होते ही घोषणा की कि अपना वार्षिक मानदेय वे पोएट्री सोसायटी को दान में देंगी, जिससे कविता के लिए एक बड़ा पुरस्कार स्थापित किया जा सके, लेकिन शेरी की 600 बोतलें अवश्य लेना चाहेंगी। यहाँ उल्लेखनीय है कि इससे पहले ड्राइडन, टेनिसन, वड्र्सवर्थ और टेड हॉग्स जैसे कवियों को यह सम्मान दिया जा चुका है। कैरल ऐन डफी को हमारी बधाई।

फिर चर्चा में सिंधु घाटी

भारत की सबसे पुरानी सभ्यता सिंधु घाटी की ऐतिहासिक खुदाई में प्राप्त अवशेषों, खासकर मुद्राओं, सिक्कों और पत्थरों पर उत्कीर्ण लिपि को पढ़ना इतिहासकारों के लिए अब तक एक बड़ी चुनौती रही है। हाल में वैज्ञानिकों ने घोषणा की है कि दुनिया की तीन सबसे पुरानी भाषाओं में से एक सिंधु घाटी की भाषा को पढ़ने के प्रयास में कुछ नई सफलता हाथ लगी है। सिंधु घाटी के अवशेषों से मिले सिक्कों और मुद्राओं पर अंकित इस चित्रात्मक भाषा के बारे में पहले धारणा थी कि ये केवल चित्र हैं, लेकिन नए शोध से यह पता चला है कि यह भाषा कोई चार हजार वर्ष पूर्व बोली जाती थी। इधर वैज्ञानिक अब इस भाषा को पढ़े जाने के लिए नई प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल कर रहे हैं। सम्भव है, सिंधु घाटी की लिपि पढ़े जाने के बाद भारत के प्राचीन इतिहास में कोई बड़ा परिवर्तन हो।

मोरवाल को बधाई

पिछले दिनों हिन्दी उपन्यासकार भगवानदास

मोरवाल के तीसरे उपन्यास 'रेत' को 15वां अंतरराष्ट्रीय इंदु शर्मा कथा सम्मान देने की घोषणा की गई है। वर्ष 2008 में राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित यह उपन्यास लगातार चर्चा में रहा है। यह सम्मान मोरवाल को इसी वर्ष 9 जुलाई को लंदन के हाउस ऑफ कॉमन्स में दिया जाएगा। मुख्य अतिथि के रूप में इस अवसर पर मा.गां.अ.हिं.वि.वि. के कुलपति साहित्यकार विभूतिनारायण राय, जिन्हें यह पुरस्कार पहले ही मिल चुका है, आमंत्रित किए गए हैं।

बलराज साहनी की याद

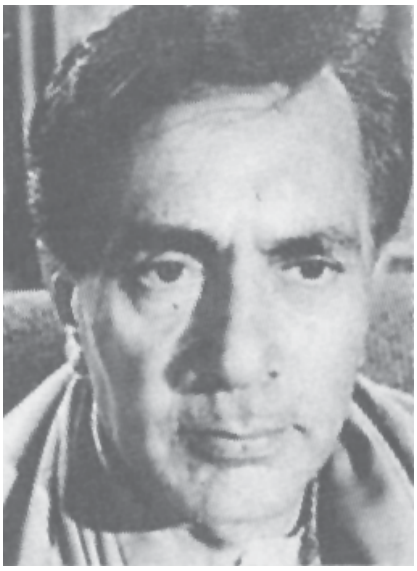

प्रख्यात फिल्म अभिनेता बलराज साहनी के नाम और काम दोनों से हम परिचित हैं लेकिन कम ही लोग जानते होंगे कि वे हिन्दी साहित्य से भी जुड़े थे। हिन्दी साहित्यकारों के नाम 30 पृष्ठों की उनकी पुस्तिका बहुत पहले सम्भवत: 'पहल' द्वारा जारी की गई थी। पिछले दिनों दिल्ली के इंडिया हेबिटाट सेंटर में आयोजित एक कार्यक्रम में इस पुस्तिका का नाटकीय पुनर्पाठ किया गया, जिससे उनकी जीवनयात्रा के महत्वपूर्ण मोड़ और पड़ाव–रावलपिंडी से लाहौर, शांतिनिकेतन, फिर गांधीजी से मुलाकात और उसके बाद फिल्मों में प्रवेश की पूरी कहानी पत्रों के माध्यम से पूरे प्रभाव के साथ उभरकर आई।

80 के हुए सच्चिदानंद सिन्हा

समाजवादी चिंतक सच्चिदानंद सिन्हा उन थोड़े से लेखकों और विचारकों में हैं, जो निरन्तर हमारे समय के बड़े प्रश्नों से जूझते रहे हैं। उनके 80वें जन्मदिन के अवसर पर उनके गृह जिला मुजफ्फरपुर में उनके लेखन पर केन्द्रित एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसका विषय था–'आधुनिक समय का संकट और सच्चिदानंद सिन्हा का लेखन'। संगोष्ठी से यह बात उभरकर आई कि उनके लेखन का प्रस्थान बिन्दु आधुनिक सभ्यता का संकट ही रहा है। उन्होंने राजनीति, अर्थनीति, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, नृतत्वशास्त्र, कला, इतिहास पर केन्द्रित अनेक पुस्तकें लिखी हैं, जिनके माध्यम से आधुनिक सभ्यता के संकट का समाधान खोजने की कोशिश की गई है। इस अवसर पर अशोक सेक्सरिया, गिरधर राठी, राजकिशोर, प्रेम सिंह, अरविन्द मोहन, अरुण कुमार त्रिपाठी, प्रो. प्रभाकर सिन्हा आदि विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किए।

रोमांटिक उपन्यासकार नेपोलियन बोनापार्ट की खोज

इतिहास के भीतर और बाहर नेपोलियन बोनापार्ट की प्रसिद्धि किंवदंति ही नहीं, मिथकीय पुरुष के रूप में रही है और तो और वे हमारे समय के मुहावरा भी बन गए हैं 'इम्पॉसिबल' शब्द को लेकर और 'वाटरलू' में अपनी पराजय के कारण। कभी लुडबिग ने उनकी बहुत अच्छी जीवनी लिखी थी। पिछले दिनों अंग्रेजी में प्रकाशित 'क्लिसोन एट एग्यूनी' उपन्यास में नेपोलियन बोनापार्ट के साहित्यकार और रोमांटिक उपन्यासकार के रूप में साहित्यिक प्रतिभा का उल्लेख किया गया है। ब्रिटिश दैनिक 'द डेली टेलीग्राफ' ने अपनी रिपोर्ट में यह जानकारी दी है। यह 1795 के दिनों की बात है जब एक 26 वर्षीय महत्वाकांक्षी युवा सैनिक ने अपनी रोमांटिक कथा लिखी थी। इसके कुछ ही समय बाद उसी वर्ष नेपोलियन पेरिस में राजशाहीवादियों की बगावत को कुचलकर सुर्खियों में आए थे।

परसाई की आवाज

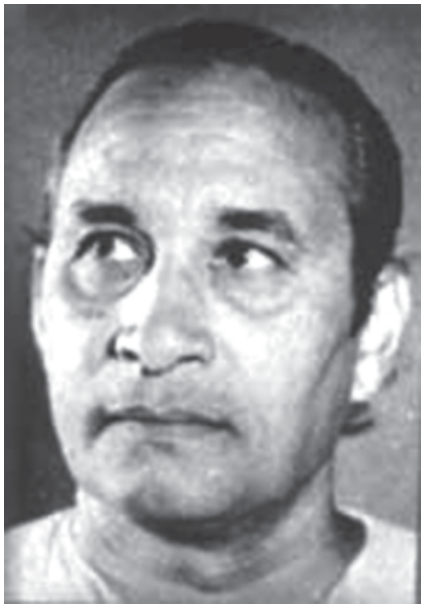

पिछले दिनों आकाशवाणी ध्वनि अभिलेखागार, नई दिल्ली द्वारा आयोजित नए कार्यक्रम 'कालजयी स्वर संपदा' के अंतर्गत आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद अगली शृंखला में प्रसिद्ध साहित्यकार हरिशंकर परसाई की दुर्लभ रिकार्डिंग की प्रस्तुति की गई। 21 मई की शाम आकाशवाणी के स्टूडियो में परसाई की आवाज में उनकी रचनाएँ सुनाई गईं। उनके बारे में वक्तव्य दिया विश्वनाथ त्रिपाठी ने और चर्चा में भाग लेने वालों में थे–अरुण प्रकाश, विष्णु नागर, कुबेर दत्त, सुधीर सुमन, मनोहर बाथम आदि। आकाशवाणी के उपमहानिदेशक और हिन्दी कवि लीलाधर मंडलोई का यह नया उपक्रम सराहनीय है। नई पीढ़ी, जो परसाई को देख नहीं सकी, कम से कम उनकी आवाज की मार्फत उनका संस्पर्श तो कर ही सकती है।

राही की स्मृति

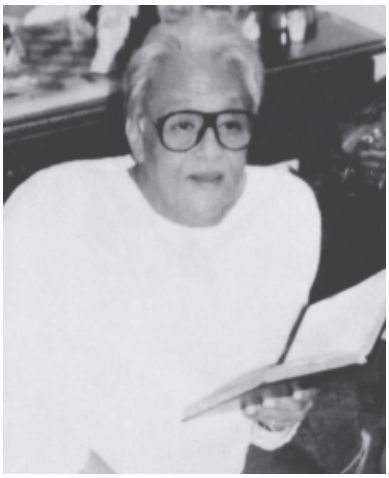

अच्छा लेखक सचमुच कभी नहीं मरता है, अपनी कृतियों में ही नहीं, लोगों की स्मृतियों में भी लगातार जीवित रहता है। पिछले दिनों प्रसिद्ध साहित्यकार राही मासूम रजा की 17वीं पुण्यतिथि के अवसर पर अलीगढ़ में 'वाङ्मय' पत्रिका की ओर से लिबर्टी होम्स में एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इस अवसर पर उनके एक संस्मरण की चर्चा करते हुए संगोष्ठी के अध्यक्ष डॉ. प्रेमकुमार ने बताया कि 'अपने बेटे की शादी हिन्दू लड़की से उन्होंने इस शर्त पर की कि वह अपना धर्म परिवर्तन नहीं करेगी।' इस प्रकार के विचार आज के बड़े-बड़े हिन्दू और मुस्लिम सेक्यूलर कहे जानेवाले लोगों के यहाँ नहीं मिलेंगे। डॉ. हस्सान ने अपने वक्तव्य में कहा कि यह कितना महत्वपूर्ण है कि एक उर्दू का आदमी महाभारत के संवाद लिखता है। यह उसकी सेक्यूलर छवि को ज्ञापित करता है। मऊ जंक्शन स्टेशन की इमारत के ऊपर रखा गया कालचक्र महाभारत के पटकथा लेखक के साथ 'आधा गाँव' के इस बेहद संवेदनशील कथाकार की स्मृति की याद दिलाता है।

दिनेश कुमार शुक्ल को केदार सम्मान

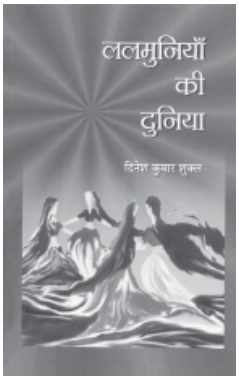

वर्ष 2008 का प्रतिष्ठित केदारनाथ अग्रवाल सम्मान वरिष्ठ कवि दिनेश कुमार शुक्ल को उनके नए कविता संग्रह 'ललमुनियाँ की दुनिया' के लिए घोषित किया गया है। यह पुरस्कार प्रतिवर्ष हिंदी के किसी प्रतिभाशाली कवि को प्रगतिशील हिन्दी के शीर्षस्थ कवि स्व. केदारनाथ अग्रवाल की स्मृति में दिया जाता है। दिनेश कुमार शुक्ल की पाँच कविता पुस्तकें प्रकाशित हैं और उन्होंने पाब्लो नेरूदा की कविताओं का भी अनुवाद किया है। अभी-अभी भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली से उनका नया कविता संग्रह 'आखर अरथ' आया है। उन्हें हमारी बधाई।

त्रासद सच

लोकतंत्र समर्थकों के हिंसक दमन के 20 साल पूरे होने के अवसर पर चीन की राजधानी बीजिंग का थ्येन आनमन चौक अशांत हो उठा है। लोकतंत्र समर्थक नेता हू याओबांग की मौत के बाद 4 जून, 1989 को छात्रों और बुद्धिजीवियों ने थ्येन आनमन चौक पर विशेष प्रदर्शन किया था। चीन ने लोकतंत्र समर्थक प्रदर्शनकारियों को कुचल डाला था। इसमें बड़ी संख्या में लोग मारे गए थे।

अभी इस त्रासदी की 20वीं वर्षगांठ पर चीन के तत्कालीन राष्ट्रपति झाओ जियांग की सद्य: प्रकाशित 'प्रिजनर ऑफ द नेशन' पुस्तक में उजागर किया गया है।

पुरवाधनश्री को सम्मान

भरतनाट्यम में पारंगत, प्रसिद्ध युवा नर्तकी पुरवाधनश्री को संगीत-नाटक अकादेमी ने आंध्र प्रदेश की अत्यंत प्राचीन शास्त्रीय नृत्य शैली 'विलासिनी नाट्यम' में दक्षता और योगदान के लिए बिस्मिल्ला खां पुरस्कार देने की घोषणा की है। किसी युवा नर्तकी को विलासिनी नाट्यम के लिए मिलने वाला यह प्रथम पुरस्कार है। उन्हें हमारी हार्दिक बधाई।

पुण्य स्मरण

सुमित्रानंदन पंत : 20 मई, 1900 ई.

पं. बालकृष्ण भट्ट : 3 जून, 1844 ई.

देवकीनंदन खत्री : 18 जून, 1861 ई.

भुवनेश्वर : 20 जून, 1910 ई.

नागार्जुन : 10 जून, 1911 ई.

जन्मदिन पर शुभकामनाएँ

भवदेव पांडेय : मई

रमेशचंद्र शाह : मई

अग्निशेखर : 3 मई

महावीर अग्रवाल : 5 मई

मंगलेश डबराल : 16 मई

शंभुनाथ : 21 मई

मदन कश्यप : 29 मई

मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह : जून

अजित कुमार : 7 जून

ए. अरविंदाक्षन : 10 जून

गीतांजलिश्री : 12 जून

विष्णु नागर : 14 जून

व्योमेश शुक्ल : 25 जून

चर्चा में पुस्तकें

अर्धकथानक (हिंदी की पहली आत्म-कथा), ले. बनारसीदास जैन, अनुवाद : रोहिणी चौधरी, पेंगुइन बुक्स इंडिया प्रा. लि., 11 कम्युनिटी सेंटर, पंचशील पार्क, नई दिल्ली-110017, मूल्य : 175 रु.

महादेवी (जीवन, लेखन, संस्मृति), दूधनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, 1बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली, मूल्य : 600 रु.

दिल्ली टी-हाउस, संपादक बलदेव वंशी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2/35, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, मूल्य : 700 रु.

एक ठग की दास्तान (आत्कथा), फिलिप मिडोज टेलर, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, मूल्य : 550 रु.

सर्वहारा रातें, जॉक रॉसिएर, अनु. अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, 21ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : 795 रु.

email : chakshu.pragya@gmail.com

Hkkjrh; fØdsV dk vferkHk cPpu

vuar fot;

महेंद्र सिंह धोनी, भारतीय क्रिकेट का एक ऐसा धूमकेतु है जो दो हजार पाँच में चमका और सितारा बनकर भारतीय क्रिकेट के आकाश में अभी भी देदीप्यमान है। वैसे महेंद्र सिंह धोनी के कप्तान बनने की कहानी बेहद दिलचस्प है। विश्वकप में हार के बाद जब कोई भी खिलाड़ी टीम इंडिया की कप्तानी का कांटों भरा ताज पहनना नहीं चाह रहा था, चयनकर्ताओं की पहली पसंद और भारतीय क्रिकेट के भगवान सचिन तेंदुलकर की भी कप्तानी में कोई रुचि नहीं थी और उन्होंने चयनकर्ताओं के समक्ष अपनी अनिच्छा जाहिर कर दी थी। कुछ और खिलाड़ी जो अपने आकाओं की मदद से टीम इंडिया के कप्तान बन सकते थे, उन्होंने भी समय देखकर इससे दूर रहना ही उचित समझा था तब, इन्हीं परिस्थितियों में जब कोई विकल्प नहीं बच गया था धोनी को बलि का बकरा बनाना तय हुआ। और गलती से टीम इंडिया को संयोगवश एक ऐसा कप्तान मिला जिसकी गिनती सफलतम कप्तानों में होने लगी। धोनी के साथ कई ऐसी दिलचस्प कहानियाँ जुड़ी हैं, जिसे सामने ला रहे हैं खेल पत्रकार शांतनु गुहा रे। शांतनु देश के उन कुछ गिने-चुने पत्रकारों में से एक हैं जो ग्राउंड जीरो पर जाकर रिपोर्टिंग करते हैं और खेल की दुनिया के पाठक उनकी समझ का लोहा मानते हैं। शांतनु की यह किताब रोली बुक्स से शीघ्र प्रकाश्य है।

शांतनु ने अपनी इस किताब में क्रिकेट की दुनिया की रंगीनियों के अलावा धोनी के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को सामने लाने की कोशिश की है। यह बात कम ही लोगों को मालूम है कि धोनी पहले फुटबॉल खेलते थे और स्कूल की टीम में गोलकीपर थे। लेकिन डीएवी स्कूल, शामली, जहाँ धोनी अपनी पढ़ाई कर रहे थे, के क्रिकेट कोच केशव रमन बनर्जी ने धोनी की प्रतिभा को सबसे पहले पहचाना और उसे गोलकीपर से विकेटकीपर बनने के लिए प्रेरित किया। धोनी ने स्कूल मैचों में विकेटकीपिंग शुरू की और फिर कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। धोनी की जिजीविषा को याद करते हुए केशव अतीत में खो जाते हैं। उन्होंने एक बहुत ही दिलचस्प वाकया बयान किया जो ऊर्जा से लबालब धोनी के क्रिकेटिंग स्पिरिट को सामने लाता है। एक स्कूल मैच में जब धोनी और उसका साथी साबिर हुसैन पारी की शुरुआत करने मैदान पर जा रहे थे तो केशव ने टीम के अन्य खिलाड़ियों को पैड

बाँधने से मना कर दिया और धोनी और साबिर को दिनभर खेलने का हुक्म सुना दिया। यह सुनकर धोनी मुस्कराए और साथी के कंधे पर हाथ रखकर खेलने गए तो फिर दिन ढलने के बाद नाबाद दो सौ तेरह रन बनाकर वापस लौटे और साथ लौटा उनका साथी साबिर एक सौ सत्रह रन बनाकर। उस दिन धोनी ने एक सौ पचास गेंदों का सामना किया और छह छक्के और छब्बीस चौके जड़े और दोनों ने मिलकर एक दिन में तीन सौ अठहत्तर रन बनाए। ये सचिन और कांबली की प्रसिद्ध कहानी से किसी भी मायने में कम नहीं है। सचिन और कांबली ने तीन दिनों में छह सौ रन बनाए थे लेकिन धोनी और उसके साथी ने एक दिन में ही तीन सौ अठहत्तर रन बनाकर इतिहास रचा था, लेकिन उसकी सफलता की यह दास्तां अनसुनी रह गई। न तो मीडिया का ध्यान इस ओर गया और न ही क्रिकेट के पंडितों का। लेकिन जब धोनी ने उन्नीस सौ निन्यानबे-दो हजार में क्रिकेट की अग्रिम पंक्ति में कदम रखा तो कंधे तक झूलते बालों और लम्बे छरहरे व्यक्तित्व ने लोगों का ध्यान जरूर खींचा लेकिन अच्छे प्रदर्शन के बावजूद तब भी धोनी को गम्भीरता से लेने का कोई तैयार नहीं था। क्योंकि ये दौर क्रिकेट में प्रदर्शन से ज्यादा गॉडफादर के वर्चस्व का दौर था। यदि सौरव गांगुली की पीठ पर जगमोहन डालमिया का हाथ था, द्रविड़ के पीछे पवार की पावर थी, अजहरुद्दीन के लिए राजसिंह डूंगरपुर पैरोकारी कर चुके थे, सचिन तो खैर भगवान बन ही चुके थे। लेकिन मराठा लॉबी उनके

साथ थी, ऐसे माहौल में महेंद्र सिंह धोनी को भरोसा था तो सिर्फ अपने प्रदर्शन का, लेकिन जब अप्रैल दो हजार पाँच में पाकिस्तान के खिलाफ विशाखापत्तनम में एक सौ अड़तालीस रनों की ताबड़तोड़ पारी और अक्टूबर दो हजार पाँच में श्रीलंका के खिलाफ जयपुर में एक सौ तेरासी रन ठोककर एडम गिलक्रिस्ट के रिकॉर्ड को उसने ध्वस्त कर दिया तो चयनकर्ता धोनी को दरकिनार करने का फिर साहस नहीं जुटा पाए। उसके बाद से धोनी का अपना विलक्षण इतिहास है। धोनी एकमात्र ऐसे खिलाड़ी हैं जिन्होंने क्रिकेट की कोई पारम्परिक कोचिंग नहीं ली। जब दो हजार पाँच में धोनी को पाकिस्तान जाना था तो उनके स्कूल के कोच ने उनकी मदद की। रातभर टेनिस की गेंद को पानी में डुबाकर रखा और जब वो सख्त हो गया तो उसी गेंद से नजदीक से बॉलिंग कर सिखाया कि शोएब अख्तर जैसे अंतरराष्ट्रीय स्तर के तेज गेंदबाज को कैसे खेला जाता है।

शांतनु गुहा रे की इस किताब में धोनी के स्कूली दिनों के कई और दिलचस्प किस्से भी हैं। धोनी को उन्नीस सौ निन्यानबे में ईस्ट जोन और वेस्ट जोन के बीच एक मैच खेलने अगरतला जाना था और उन्हें जब इसकी जानकारी मिली तो यह बतानेवाला कोई नहीं था कि अगरतला पहुँचा कैसे जाता है। एक क्षेत्रीय चयनकर्ता ने बेहद अनौपचारिक अंदाज में वहाँ पहुँच जाने का हुक्म सुना दिया था। धोनी के पास न तो इतना पैसा था कि नियत समय पर अगरतला पहुँच जाएँ। लेकिन धुन के पक्के धोनी ने यह तय कर लिया था कि हर हाल में अगरतला पहुँचना है क्योंकि उस मैच में सचिन तेंदुलकर भी खेल रहे थे। धोनी ने दोस्तों और जान-पहचान के लोगों से पैसे का इंतजाम किया और सूमो किराए पर लेकर कोलकाता रवाना हो गए। रात भर का सफर तय करके जब वह कोलकाता के दमदम एयरपोर्ट पर पहुँचे तो पता चला कि दस मिनट पहले अगरतला की फ्लाइट जा चुकी है। ये दिन धोनी के संघर्ष के दिन थे। अब भी कभी अगर संघर्ष के दिनों की बात होती है तो धोनी उस मैच को याद कर भावुक हो जाते हैं।

महेंद्र सिंह धोनी की सफलता ने रांची, जो कि कभी हॉकी के लिए जाना जाता था, को एक क्रिकेट क्रेजी शहर के मानचित्र में तब्दील कर दिया है। धोनी के माँ-बाप अब भी मेकन कम्पनी के एक छोटे-से क्वार्टर में रहते हैं। भारतीय क्रिकेट टीम का यह कप्तान अपनी सफलता का सारा श्रेय अपनी माँ को देता है। रांची के इस लड़के का कहना है कि उसकी माँ ने ही उसे क्रिकेट खेलने के लिए लगातार न केवल प्रेरित किया बल्कि हर तरह से उसकी मदद भी की।

शांतनु गुहा रे ने कभी लिखा था कि एक बार वह गांगुली से किसी एक लेखक की किताब लेकर उसका ऑटोग्राफ लेने पहुँचे तो सौरव ने हस्ताक्षर करने के बाद कहा कि इस किताब में कई खामियाँ हैं। मुझे विश्वास है कि शांतनु की इस किताब पर अगर धोनी को ऑटोग्राफ देने का मौका मिला तो वह यह कहेगा कि यह किताब मेरे अब तक के व्यक्तित्व के हर पहलू को छूती है।

माही : द इनसाइड स्टोरी ऑफ द इंडियन क्रिकेट कैप्टन/ शांतनु गुहा रे/ रोली बुक्स, नई दिल्ली/ संभावित प्रकाशन माह : अगस्त, 2009/ मूल्य : तय नहीं।

321बी, शिप्रा सनसिटी, इंदिरापुरम्, गाजियाबाद

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

छवि - संग्रह

यों तो किसी भी लेखक की सबसे जीवंत उपस्थिति उसकी रचना में होती है पर जैसे हम एक रचना पढ़कर दूसरी रचना खोजते या एक पुस्तक से गुज़रकर दूसरी के लिए उत्सुक अधीर होते हैं वैसे ही हमें इच्छा होती है यह जानने की कि वह लेखक कैसा दीखता है उसका पासपड़ोस कैसा है, वह किनकी सोहबत में रहता आया है, आदि। छवि-संग्रह के माध्यम से हमारा यत्न समकालीन मूर्धन्य लेखकों पर ऐसी सामग्री एकत्र और विन्यस्त करना है तो एकबारगी हमें लेखक के समूचे कृतित्व, उस पर विभिन्न अभिमतों, उसके लिखे, चुने हुए अंशों, उसके अनुवादों, मित्रों, यात्राओं, पड़ोस आदि से अवगत करा दे। यह लेखक को उसकी कृतियों, उसके परिवेश और उसके ठोस संदर्भ में जीवित उपस्थिति के रूप में साक्षात् करने की कोशिश है। यह एक सीरीज है जिसमें, हमें उम्मीद है, हम अनेक मूर्धन्य लेखकों को एक-एक कर उपस्थित कर सकेंगे।

अभी तक प्रकाशित छवि-संग्रह :

निर्मल वर्मा, कुँवर नारायण, कृष्णा सोबती, विष्णु प्रभाकर, भीष्म साहनी, नेमिचंद्र जैन, मनोहर श्याम जोशी और नामवर सिंह

fgarhfiQYeksadsLo.kZ;qxdkLej.k

izhfr iar

हिंदी आलोचना प्रायः अब तक कविता, कहानी, उपन्यासों तक सीमित रही है। उसने ललित निबंधों, डायरी, रिपोर्ताज, यात्रा-वृतांतों, जासूसी उपन्यासों, वैज्ञानिक कहानियों आदि को कोई खास महत्त्व नहीं दिया तो उससे भला फिल्मों–और वे भी बम्बई की फिल्मों और उससे जुड़े मुद्दों–से रूबरू होने की आशा कैसे की जा सकती थी। दरअसल सीमित दायरे में सोचनेवाले हिन्दी आलोचकों ने सम्प्रेषण के इस सबसे बड़े माध्यम की महत्ता को कभी समझा ही नहीं। बावजूद इसके गैर-आलोचक सिने-प्रेमियों में से कुछ ने हिन्दी फिल्म जगत पर छुटपुट लेखन अवश्य किया। बहुत पहले, सन् 1961-62 के आसपास, प्रेमकृष्ण टंडन की एक पुस्तक आई थी–'रजतपट की कहानी'। लगभग 80 वर्षीय वयोवृद्ध टंडन अब भी 'जनसत्ता' और अन्य पत्र-पत्रिकाओं में कभी-कभार गुजरे समय की फिल्मी हस्तियों और अज्ञात क्रांतिकारियों पर लेख लिखते रहते हैं। बाद में बच्चन श्रीवास्तव से लेकर कुँवरनारायण, विष्णु खरे, प्रताप सिंह, ब्रजेश्वर मदान, धीरेंद्र अस्थाना, विनोद अनुपम, मुकेश कुमार आदि तक अनेक लेखकों-पत्रकारों के फिल्मों पर लेख पढ़ने को मिलते रहे, पर लम्बे अर्से तक कोई गम्भीर पुस्तक सामने नहीं आई। लम्बे अंतराल के बाद प्रसिद्ध संगीत निर्देशक अनिल बिस्वास पर शरद दत्त की पुस्तक 'ऋतु आए, ऋतु जाए' पढ़ने को मिली। इसके बाद शरद दत्त ने अमर गायक सहगल पर भी 'कुंदन' शीर्षक से एक अच्छी पुस्तक लिखी है। इसी बीच पंकज राग की पुस्तक 'धुनों की यात्रा' आई, जिसमें फिल्म संगीत के 75 वर्षों का लम्बा इतिहास है जो सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों से भरपूर है। हम प्रह्लाद अग्रवाल को भी याद कर सकते हैं यहाँ, जिनकी कई पुस्तकें फिल्मी हस्तियों पर आई हैं।

और अब फिल्म-पत्रकार हरीश तिवारी की एक साथ दो पुस्तकें आई हैं– 'यादों का सफर' और 'सुरीली यादें'। ये दोनों पुस्तकें हिन्दी सिने जगत से सम्बद्ध और अब तक प्रकाशित पुस्तकों से थोड़ा अलग हैं। हरीश तिवारी ने 'टाइम्स ऑफ इंडिया' समूह की फिल्मी पत्रिका 'माधुरी' में काम करने के दौरान और उससे कुछ पहले व उसके बाद फिल्मी हस्तियों से निजी सम्बन्धों-सम्पर्कों के आधार पर जो अनेक लेख लिखे, वे उनकी दोनों पुस्तकों में बम्बई की फिल्मी दुनिया के आत्मीय अध्ययन के रूप में अब सामने आए हैं। ये सभी लेख 1935-40 से लेकर 1980-85 तक हिन्दी फिल्मी दुनिया के स्वर्णकाल पर केन्द्रित हैं जिनमें वे हमें तब की फिल्मी हस्तियों से न केवल रूबरू कराते हैं, बल्कि उनके आत्मीय और कई बार ट्रैजिक संस्मरण भी सुनाते हैं और साथ ही इन हस्तियों के बहाने हिन्दी फिल्मों के इतिहास और परिवर्तन के बारे में भी बताते चलते हैं। उदाहरण के लिए पुस्तक 'यादों का सफर' में वे फिल्म 'मदर इंडिया' के निर्माता महबूब खां द्वारा शूटिंग में लाए गए परिवर्तन की ओर इन शब्दों में इंगित करते हैं– ''ट्रॉली शॉट का पहला प्रयोग महबूब ने ही किया, वह भी ऐसे वक्त में जब रिकॉर्डिंग में प्लेबैक सिस्टम नहीं आया था। बकौल संगीतकार नौशाद के साजिंदे ट्रॉली के साथ आगे बढ़ते थे, जब ट्रॉली पीछे खींची जाती तो साज बजाते वे उल्टे वापस लौटते और गिरते-पड़ते चोट खा बैठते....। हिन्दुस्तानी फिल्मों के सैट्स को हॉलीवुड जैसी भव्यता पर

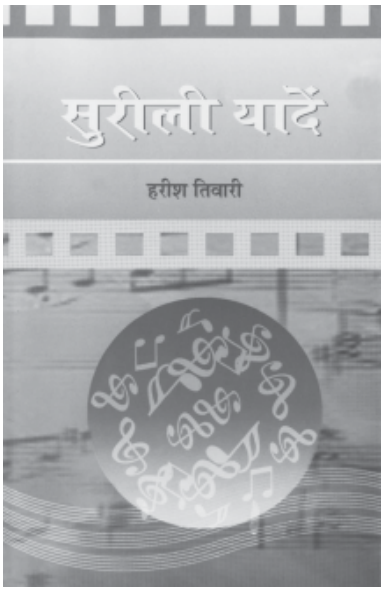

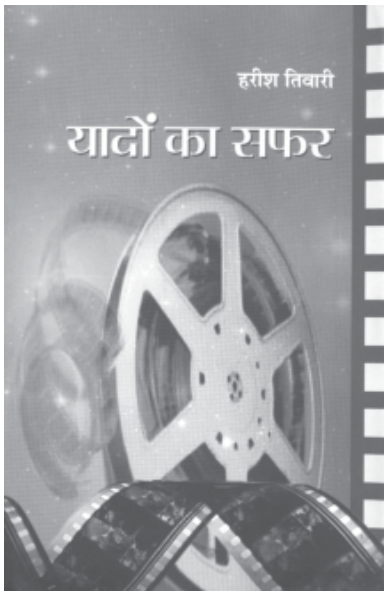

पहुँचाने में उनका जबर्दस्त हाथ रहा। उन्होंने अपनी फिल्मों में आलीशान सैट लगाए। बड़े-से हॉल के बीच से सीढ़ियाँ जाते जिस सैट का फिल्मों में बड़ा प्रचलन रहा, वह महबूब खां की ही देन है।'' यह उदाहरण संकेत है कि कैसे हिन्दी फिल्में धीरे-धीरे भव्यता की ओर बढ़ीं और कैसे साजिंदों को संकट का सामना करना पड़ता था।

संगीत में साउंड प्रूफ रिकॉर्डिंग या मल्टीपल ट्रैक का युग बहुत बाद में आया। यहाँ तक कि 'मुगल-ए-आजम' जैसी ऐतिहासिक फिल्म के समय भी यह व्यवस्था नहीं थी। खैर.... के. आसिफ साहब चाहते थे कि उनकी इस फिल्म में बड़े गुलाम अली खां गाएँ। नौशाद ने के. आसिफ को समझाया कि बड़े गुलाम अली फिल्मों में नहीं गाते। लेकिन क्षण-क्षण में सिगरेट का कश खींचने वाले आसिफ साहब अड़ गए कि उनकी फिल्म में उस्ताद बड़े गुलाम अली ही गाएँगे। नौशाद के साथ वे उस्ताद से मिलने गए तो उस्ताद ने आसिफ से छुटकारा पाने के लिए कहा कि वे बहुत ऊँची फीस लेते हैं। के. आसिफ ने पूछा कि बताइए क्या फीस लेंगे आप? उस्ताद ने कहा- पाँच हजार। सिगरेट का सुट्टा लेते हुए के. आसिफ बोले-मैं आपको पाँच हजार की जगह पंद्रह हजार दूँगा। उस्ताद बड़े गुलाम अली खां फँस गए। 'हाँ' कहना पड़ा। उन्हें पंद्रह हजार रुपये तो मिले पर के. आसिफ ने पूरे ग्यारह घंटों में एक गाना गवाकर उन्हें जता दिया कि फिल्मों में गायन कोई हँसी-खेल नहीं है। मतलब यह कि हिन्दी फिल्मों के उस स्वर्ण युग में जब 'मुगल-ए-आज़म', 'दो बीघा जमीन', 'आवारा', 'अछूत कन्या', 'गाइड' आदि बनीं तो ये और ऐसी फिल्में जमकर किए गए परिश्रम का परिणाम थीं। बरक्स इसके आज फिल्में मानो फैक्ट्रियों का फटाफट किया गया उत्पाद हो गई हैं। यहाँ तक कि रामगोपाल वर्मा ने अपनी फिल्म कंपनी का नाम ही 'फैक्ट्री' रख दिया है। फिल्मोद्योग पर एक दिलचस्प व्यंग्य है यह।

ऊपर 'मुगल-ए-आजम' की बात चली है, तो हरीश तिवारी के शब्दों में उसके जन्म की कहानी भी जान लीजिए-''मुगल-ए-आजम जैसी भव्य फिल्म का सपना के. आसिफ की आँखों में तब से तैरना शुरू हुआ, जब वे दादर में टेलर मास्टरी किया करते थे। मियाँ नौशाद उन दिनों निहायत मुफलिसी में रात को फुटपाथ पर सोकर और दिन में दर-दर स्टूडियो की ठोकरें खाते हुए दिन गुजार रहे थे। ऐसे में के. आसिफ अपनी कैंची हवा में लहराते हुए उन्हें ढांढस बँधाते थे, 'दिल छोटा न करिए, हम जो मुगल सल्तनत पर पिक्चर बनाने की सोचते हैं, उसका म्यूजिक आप ही के हवाले किया जाएगा।''' और सचमुच टेलर मास्टर के. आसिफ ने एक दिन टेलरिंग की दुकान बंद की और पहली ही फिल्म 'फूल', जो 1940 में बनी, भव्य बजट तथा मल्टीस्टार वाली बना डाली जिसमें तब के नामी सितारे पृथ्वीराज कपूर, दुर्गा खोटे, सुरैया, वास्ती आदि थे। लेकिन के. आसिफ की फिल्म निर्माण कला का चरमोत्कर्ष 'मुगल-ए-आजम' था, जिसमें वायदे के अनुसार उन्होंने संगीत देने की जिम्मेदारी नौशाद को सौंपी। यों तब तक नौशाद ख्यातिप्राप्त संगीत निर्देशक हो चुके थे, पर 'मुगल-ए-आजम' ने उन्हें शिखरस्थ संगीत निर्देशक बना दिया।

हरीश तिवारी ने 'यादों का सफर' में न केवल देव आनंद, राजकपूर, मीना कुमारी, सुनील दत्त, वैजयंती माला, राजेश खन्ना, बिमल रॉय आदि को प्रस्तुत किया है, बल्कि मूक फिल्मों के दौर की हीरोइन और 'किसिंग क्वीन' नाम से विख्यात रूबी मायर्स उर्फ सुलोचना, जांबाज नादिया, छैल छबीली कुक्कू, बिजली जैसी कौंध वाली नर्तकी हेलेन आदि के संस्मरण भी लिखे हैं। वे मोतीलाल की रईसी और घुड़दौड़ में दस मिनट में अस्सी हजार रुपये हार कर भी मुस्कराते रहने के किस्से बताते हैं तो यह भी बताते हैं कि बाम्बे टाकीज के सामने चाल में रहते हुए मधुबाला फिल्मों में आईं और छा गईं, जबकि दूसरी ओर 'एक-दो-तीन', आ जा मौसम है रंगीन, जैसे गानों पर ठुमकने वाली और 'ऑस्टिन' कार से स्टूडियो जाने वाली कुक्कू की जिन्दगी में एक ऐसा दौर भी आया जब उन्हें आर्थिक अभावों से जूझते हुए बम्बई में माहीम की एक चाल में जिन्दगी गुजारनी पड़ी जहाँ कोई जानता भी नहीं था कि यह गोरी लेकिन बूढ़ी एंग्लो-इंडियन महिला नर्तकी कुक्कू है। ऐसी ही कहानी है और बहुत से अभिनेता-अभिनेत्रियों की। वे दिलीप कुमार, देव आनंद आदि की नाजुक रूमानियत भरी अभिनय शैली के बरक्स बलराज साहनी का जिक्र करते हुए कहते हैं-''ऐसे समय में फटी चप्पलें, वैसी ही पतलून-शर्ट पहने, बिखरे बालों और बढ़ी हुई दाढ़ी लिए, हिन्दी सिनेमा के हीरो के डी-ग्लैमराइज्ड रूप में बलराज साहनी पर्दे पर अवतरित हुए। उनकी आँखों में रूमानियत के बजाय व्यवस्था से टकराने और कुछ कर गुजरने का हौसला चमक रहा था।''

बिमल रॉय के बाद जब भी 'देवदास' का पुनर्निर्माण हुआ या होता रहेगा, फिल्मकारों को 'देवदास' से ज्यादा दारू को ग्लोरीफाई करने और बॉक्स-ऑफिस पर 'दारू महोत्सव' के जरिए भीड़ खींचने का सुनहरा मौका मिलेगा, पर बिमल रॉय जैसा निर्देशक अगर पैदा होगा तो वह उस द्वंद्व का विश्लेषण करेगा जिसके मातहत एक भग्नहृदय प्रेमी, जीने की अपनी चाहत का खात्मा होशो-हवास में नहीं देख पाता।

'यादों का सफर' के बरक्स 'सुरीली यादें' हिन्दी की फिल्मी दुनिया में संगीत के सफर पर केन्द्रित है। संगीत निर्देशकों के संस्मरण लिखते समय हरीश तिवारी ने साथ ही साथ यह भी स्पष्ट किया है कि कोई श्रेष्ठ संगीत निर्देशक दूसरे श्रेष्ठ संगीत निर्देशक से किस वजह से भिन्न था। उदाहरणार्थ, गुलाम हैदर, जो देश विभाजन के बाद पाकिस्तान चले गए थे, 'बीट' पर आने वाले बोलों पर ज्यादा वजन देते थे और उन्होंने फिल्म संगीत को ढोलक के 'रिद्म' से जोड़ने का नया प्रयोग किया। दूसरी ओर अनिल बिस्वास ने संगीत की प्रचलित शैली से हटकर साजों की नवीनता पर जोर दिया। नौशाद ने शुरुआत तो लोकसंगीत पर आधारित धुनों से की,

लेकिन 'बैजू बावरा' तक आते-आते वे शास्त्रीय संगीत की आधारभूमि पर धुनें निकालने लगे। दूसरी ओर सचिन देवबर्मन ने बंगाल के लोकसंगीत, खासतौर पर बाउल संगीत के माधुर्य को अपनी फिल्मी धुनों में उतारा, लेकिन 'ज्वैल थीफ' तक आते-आते हमें उनके यहाँ लोकसंगीत और पाश्चात्य संगीत का सफल मिश्रण देखने को मिलता है। पाश्चात्य संगीत की परम्परा को उनके पुत्र राहुल देवबर्मन ने और आगे बढ़ाया, जिसकी चरम परिणति 'शोले' के गीत 'महबूबा-महबूबा' में देखने को मिलती है।

लेकिन जहाँ आज ए.आर. रहमान को छोड़कर अधिकांश संगीत निर्देशक सीधे-सीधे पश्चिमी धुनें ही लेने लगे हैं, वहीं सन् 80-85 तक सामने आए राहुल देवबर्मन, शंकर-जयकिशन, लक्ष्मीकांत प्यारेलाल, ओ.पी. नैयर जैसे संगीतकार पाश्चात्य संगीत को भारतीय पृष्ठभूमि में ढाल रहे थे। इसी ओर इंगित करते हैं हरीश तिवारी पुस्तक 'सुरीली यादें' में। उन्होंने जयदेव, सलिल चौधरी, सी. रामचंद्र, हेमंत कुमार, खय्याम आदि की विशेषताओं को भी पुस्तक में रेखांकित किया है। साथ ही उन्होंने हिन्दी फिल्म संगीत-यात्रा को भी रेखांकित किया है। लेकिन यह गौरतलब है कि संगीत की दुनिया में बेहद प्रगति और वाद्यों की बहुलता के बीच आज फिल्मी संगीत कर्कश और कोलाहलपूर्ण होता जा रहा है, फिल्में आती हैं, उनके गाने कुछ दिन गुनगुनाए जाते हैं और फिर एकदम से गायब हो जाते हैं, जबकि 1935-40 से लेकर 1980-85 तक के स्वर्णयुग के कई गाने आज भी जीवित और जीवंत हैं।

हरीश तिवारी हम जैसे साधारण सिनेप्रेमियों के आगे रहस्य खोलते हैं कि सी. रामचंद्र यों तो संगीत निर्देशक थे, लेकिन वे जब गाते थे तो चिंचालकर के नाम से। ....और लता की चर्चा चली है तो हरीश तिवारी के इस विश्लेषण के आरम्भिक अंश में भले ही कुछ अतिशयोक्ति प्रतीत हो, किन्तु उनके अधिकांश कथन से सहमत होना ही पड़ेगा। कथन कि-''अब तक की जितनी गायिकाएँ थीं, उनके गायन में कोठेवाले कुछ लटके-झटके आ ही जाते थे, मगर पहली बार लता का अलौकिक स्वर फिल्म-संगीत को संस्कारित करने में सफल रहा। लता के सुमधुर स्वरों में पहली बार सामाजिक मर्यादाओं ने अपने कड़े रुख को नरम कर दिया और भारतीय युवती की उन उमगती भावनाओं को उभरने का मौका दिया जो उच्छृंखलता की हदों को कभी नहीं लांघतीं।'' लता के स्वर के विश्लेषण के संदर्भ में यह जिक्र है सन् 1949 का। इससे दो साल पहले सन् 1947 में लता फिल्म संगीत की दुनिया में अवतरित हुईं, जब ''संगीतकार दत्ता जावड़ेकर ने फिल्म 'आपकी सेवा' में लता से पहली बार हिन्दी गीत गवाया-पा लागूं कर जोही।'' और 1949 तक आते-आते लता अच्छा-खासा स्थापित नाम हो गईं और इस एक अकेले वर्ष में उन्होंने 'चुप-चुप खड़े हो जरूर कोई बात है' जैसे एक से बढ़कर एक 27 गाने गाए और आज भी वे गाए चली जा रही हैं। हरीश तिवारी 1949 का जिक्र करते हुए लता के संदर्भ में ठीक ही रूपक प्रस्तुत करते हैं-''रन वे पर रेंगता उनका लोकप्रियता का जहाज तेजी से दौड़ा, ऊपर उठा और देखते-देखते एवरेस्ट की ऊँचाइयों से भी ऊपर निकल गया।''

लता सौभाग्यशाली रहीं। स्वर्ण युग के अनेक गायक और संगीतकार शिखर पर पहुँच कर भी सौभाग्यशाली नहीं रहे। उनकी मार्मिक और करुण कहानियाँ इस पुस्तक में पेज-दर-पेज बिखरी पड़ी हैं। हिन्दी फिल्मों के पहले स्टार सिंगर थे मास्टर निसार। उन पर लिखे हरीश तिवारी के संस्मरणात्मक लेख के कुछ अंश-''लड़के-लड़कियों के झुंड के झुंड मास्टर निसार की एक झलक पाने के लिए मैरीन ड्राइव स्थित उनके निवास के आगे खड़े रहते थे।.... 'उस समय मुम्बई में दो रॉल्स रॉयस कारें थीं, एक मेरे पास, दूसरी गवर्नर के पास' कहने वाले मास्टर निसार के पास, बाद के दिनों में कुछ भी न रहा। उनकी रेशम जैसी शोहरत फटे-पुराने टाट के चीथड़ों में बदल गई। ...कमाठीपुरा जैसे मुम्बई के बदनाम इलाके में कीचड़ भरी गली-दर-गली पार करते जाओ, तब एक गंदी-सी चाल के भीतर मास्टर निसार को देखना मुझे गर्दिश में डूबे सितारे को देखने जैसा हृदयद्रावक लगा।''

हरीश तिवारी फिल्मी हस्तियों के योगदान का जिक्र करने, उसका विश्लेषण करने और आकलन करने के साथ ही साथ अपने संस्मरणात्मक लेखों में इन हस्तियों के जीवन की हकीकत को भी लगातार सामने लाते हैं। इस मायने में उनकी ये दोनों पुस्तकें फिल्म जगत-खासतौर पर मुम्बई के फिल्म जगत-के बारे में अब तक आई पुस्तकों से सर्वथा अलग हैं।

इस संदर्भ में यह पुस्तक-चर्चा संगीतकार जयदेव के बारे में हरीश तिवारी की इस टिप्पणी से समाप्त की जाती है-''मुंबई में चर्चगेट स्टेशन के सामने इरोज सिनेमा है, उसके पीछे सड़क के किनारे एक गुलमोहर का पेड़ था, उसके बरक्स बड़ी-सी बिल्डिंग की तली में जो कमरा था, वह संगीतकार जयदेव का म्यूजिक रूम, ड्राइंगरूम, बेडरूम, किचन और बाथरूम भी था। कमरे में जो खिड़की थी, हमेशा खुली रहती थी। वहाँ से हारमोनियम के सुरों में सवार एक मादक स्वर-लहरी गुलमोहन के पीले फूलों से टकराकर सुगंध की तरह बाहर के कोलाहल में बिखर जाती, 'जो तुम आ जाते एक बार'। ताज्जुब करने की बात तो थी ही, एक फिल्म संगीतकार के घर से महादेवी वर्मा जैसी कवयित्री की काव्य पंक्तियाँ? पर जिन लोगों का जयदेव से अक्सर मिलना होता, उन्हें मालूम था, उस खिड़की से निराला, जयशंकर प्रसाद, हरिवंश राय बच्चन जैसे कवियों की कविताएँ निर्झर की तरह झरती रहती हैं।'' इत्यलम!

यादों का सफर/ मूल्य : 150 रुपये; **सुरीली यादें**/ मूल्य : 200 रुपये/ दोनों के लेखक : हरीश तिवारी/ मेधा बुक्स, एक्स-11, शाहदरा, दिल्ली-110032

सी-2/31, ईस्ट ऑफ कैलाश, नई दिल्ली-65